जो कोई हरि भगवान में काम, क्रोध, भय, स्नेह और ऐक्य अथवा सौहृद नित्य विशेष धारण करनेवाले हैं, वे भगवन्मयता—भगवान के स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं ॥ १५ ॥

जिस भगवान के द्वारा यह परिदृश्यमान जगत् मुक्त हो रहा है, उस अज भगवान योगेश्वरों के ईश्वर कृष्ण में तुमको इस प्रकार का विस्मय नहीं करना चाहिये ॥ १६ ॥

(सुबो०) एतत्सप्तमस्कन्ध एवोक्तं शिशुपालमुक्तौ । यथा शास्त्रद्वयं भक्तिज्ञानप्रतिपादकं साधनम् , तथा भगवत्स्वरूपमपि । भगवान् हि मुक्तिदानार्थमेवावतीर्णः । सच्चिदानन्दरूपेण प्रकटः । अतो यः कश्चन येन केनाप्युपायेन भगवति सम्बन्धं प्राप्नोति, स एव मुच्यते । ज्ञानभक्त्योस्तु आविर्भावार्थमुपयोगः । आविर्भावश्चेदन्यथासिद्धः, तदा न ज्ञानभक्त्योरुपयोगः । अत्र तु भगवान् स्वत एवाविर्भूतः, मुक्तिदानार्थं सर्वसाधारण्येन, ईश्वरेच्छाया अनियम्यत्वात् । अत आविर्भावः स्वेच्छया, भक्त्या, ज्ञानेन वा । भगवदवतारातिरिक्तकाले द्वयमेव हेतुः । अवतारदशायां तु न तयोः प्रयोजकत्वम् । वर्षाकाले जलं सर्वत्र सुलभमिति न कूपनदीनामनुपयोगः शङ्कनीयः । तदाह । पुरस्तात् सप्तमस्कंधे यथा चैद्यः शिशुपालः सिद्धिं भगवत्सायुज्यं गतः । द्विषन्नपि द्वेषं कुर्वन्नपि । यद्यपि द्वेषकृतो दोषः प्रतिबन्धको भवति, तथापि स्मरणेन तदघं हृत्वा तत्र सायुज्यं प्राप्तः । किञ्च, नापि तस्य दोषोस्ति कश्चन । द्वेषादयोपि भगवतैवोत्पादिताः तदाह—हृषीकेशमिति । इन्द्रियप्रेरकोऽयं यथासुखं भावानुत्पादयति । यत्र द्वेषस्यापि मोक्षसाधकत्वम् , तत्र अधोक्षजप्रियाः किमु वक्तव्या मुक्तिं गच्छन्तीति ॥ १३ ॥

श्री शुकदेव जी कहते हैं कि यह मैंने सप्तम स्कन्ध शिशुपाल के मोक्ष प्रसङ्ग में ही कह दिया था कि जिस प्रकार भक्ति तथा ज्ञान के प्रतिपादन करने वाले शास्त्र—उपासना काण्ड और ज्ञान काण्ड मोक्ष में साधन हैं । उसी प्रकार भगवान का स्वरूप भी मोक्ष में साधन है ।

भगवान मोक्षदान करने के लिये ही अवतार लेते हैं, अर्थात् सच्चिदानन्द रूप से प्रकट होते हैं । इसलिये जो कोई भी किसी भी उपाय से भगवान से सम्बन्ध प्राप्त करता है, वही मुक्त हो जाता है ।

ज्ञान तथा भक्ति का तो भगवान का आविर्भाव करने के लिये उपयोग है, और यदि भगवान का प्राकट्य किसी अन्य प्रकार से होता हो तो फिर ज्ञान और भक्ति के उपयोग की आवश्यकता नहीं रहती है ।

व्रज में तो भगवान स्वयं अपनी इच्छा से ही प्रकट हुये हैं, और सर्वसाधारण को मुक्तिदान देने के लिये प्रकट हुये हैं । कारण कि ईश्वर की इच्छा का नियमन कोई भी नहीं कर सकता है । अतः भगवान का आविर्भाव स्वेच्छा से—भगवान की इच्छा से, अथवा भक्ति से, अथवा ज्ञान से होता है ।

पुष्टिमार्ग में भगवान अपनी इच्छा से प्रकट होते हैं, और अन्य दोनों मार्गों में मर्यादा-साधन से प्रकट होते हैं ।

जिस समय भगवान का अवतारकाल नहीं होता है, उस समय भक्ति ज्ञान दोनों ही साधन भगवान के प्राकट्य में उपयोगी होते हैं, किन्तु भगवान की अवतारदशा में तो ज्ञान, और भक्ति का उपयोग नहीं होता है, इस प्रकार कहने से यह नहीं समझना चाहिये कि ज्ञान और भक्ति सर्वथा अवतारदशा में अनुपयोगी हैं, जिस प्रकार वर्षाकाल में जल सर्वत्र सुलभ होता है, तो फिर कूंआ और नदियों का जल अनुपयोगी होता है क्या ? अर्थात् नहीं ।

उसी प्रकार भगवान की अवतारदशा में भी ज्ञान, भक्ति को अनुपयोगी नहीं मानना चाहिये । इसी बात को शुकदेव जी कहते हैं कि (उक्तं पुरस्तात्) पहिले ही सप्तम स्कन्ध में कहा है कि शिशुपाल द्वेष करने पर भी भगवान की सायुज्य मुक्ति को प्राप्त हुआ है ।

यद्यपि साधारण जीव से भी द्वेष करने पर पाप लगता है, उसमें भी भगवान कृष्ण से शिशुपाल ने द्वेष किया था, अतः द्वेषकृत दोषमुक्ति में प्रतिबन्धक होना चाहिये था, तथापि द्वेष भी यदि भगवत्सम्बन्धी होता है तो द्वेष द्वारा भी भगवान का स्मरण द्वेषकृत दोष को दूर करके सायुज्य मोक्ष देता है, अतः वैर पाप भी शिशुपाल की मोक्ष में प्रतिबन्धक नहीं हुआ है ।

दूसरा एक यह भी कारण है कि शिशुपाल का द्वेष करने में कोई दोष भी नहीं है, कारण कि द्वेष आदि भी भगवान ने ही उत्पन्न किये हैं, इसी बात को आगे कहते हैं कि (हृषीकेशम्) हृषीक इन्द्रियों के ईश, भगवान इन्द्रिय प्रेरक हैं, और अपने को जिस प्रकार सुख होता है, उसी प्रकार के भावों को उत्पन्न करता है । जहां पर द्वेष को भी मोक्ष साधकत्व है, वहां फिर अधोक्षज भगवान की प्रिय गोपियों को जारबुद्धि से मोक्ष प्राप्त हुई तो इसमें क्या कहने की बात है ॥ १३ ॥

(सुबो०) अत्र मुख्यामुपपत्तिमाह—नृणां निःश्रेयसार्थायेति । प्राणिमात्रस्य मोक्षदानार्थमेव भगवान् अभिव्यक्तः, अत इयमभिव्यक्तिः, निःश्रेयसार्थैव । अन्यथा न भवेत् । असाधारणप्रयोजनाभावात् । भूभारहरणादिकं च अन्यथापि भवति । अतो निःश्रेयसार्थमेव भगवतोऽभिव्यक्तिः प्राकट्यम् । नृपेति सम्बोधनं कदाचिद्राजा कथञ्चिद्गच्छति तद्वदिति ज्ञापयितुम् । प्रकारान्तरेण तादृशस्य नाभिव्यक्तिः सम्भवतीति वक्तुं भगवन्तं विशिनष्टि । आदौ भगवान् सर्वैश्वर्यसंपन्नः अपराधीनः कालकर्मस्वभावानां नियामकः सर्वनिरपेक्षः किमर्थमागच्छेत् । किञ्च, स्वार्थं गमनाभावेऽपि परार्थं वा स्यात्, तदपि नास्तीत्याह—अव्ययस्येत्यादिचतुर्भिः पदैः । अन्येषां कृतिसाध्यं ज्ञानसाध्यं वा यद्भवति तदुपयुज्यते । भगवांस्तु अव्ययत्वात् अविकृतत्वात् न कृतिसाध्यः, अप्रमेयत्वात् ज्ञानसाध्योऽपि न । देहादिभजनद्वारा भजनीयो भविष्यतीत्यपि न, यतो निर्गुणः, निर्गता गुणा यस्मात् । गुणेषु विद्यमानेष्वेवान्यस्य प्रतिपत्तिस्तत्र भवति, यथा क्षुधि सत्यामन्नदानम् , कामे सति रत्युपयोगः, इन्द्रियेषु सत्सु तद्विषयाणाम् । अतो भगवतः

सेवकपूरणीयांशः कोऽपि नास्तीति भजनीयोऽपि न भवति। किञ्च, लीलार्थं यद्यपेक्षेतापि, न तथापि सर्वं तस्यैव, यतः सर्वगुणानां स एवात्मा । अतः साधनप्रकारेण नान्यस्याप्युपयोगः । अतः स्वपरप्रयोजनाभावात् यदि साधननिरपेक्षां मुक्तिं न प्रयच्छेत्, तदा व्यक्तिः प्रयोजनरहितैव स्यात् ॥ १४ ॥

प्रथम कह चुके हैं कि जिस प्रकार उपासनाकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड मोक्ष में साधन हैं, उसी प्रकार भगवान का स्वरूप भी मुक्तिदान करता है। इसमें मुख्य समाधान कहते हैं कि

'नृणां निःश्रेयसार्थाय' मनुष्यों के कल्याण के लिये भगवान का प्राकटच होता है।

यदि कहो कि मोक्षदान तो वासुदेव व्यूह का कार्य है, फिर आप भगवान का प्राकटच मोक्षदान करने के लिये क्यों कहते हैं।

इसका समाधान यह है कि भगवान वासुदेव तो साधन वाले जीवों को मोक्षदान करते हैं, और इस समय जो प्राकटच हुआ है वह निःसाधन प्राणिमात्र को मोक्ष देने के ही लिये हुआ है, इसलिये यह प्राकटच निःश्रेयस–मोक्षार्थ ही है।

यदि प्राकटच में उक्त कारण नहीं मानते हो तो फिर भगवान का प्राकटच होना संभव नहीं होता है, कारण कि भगवान के आविर्भाव में असाधारण अन्य प्रयोजन नहीं दीखता है। भूभारहरण आदि कार्य तो 'यदायदा हि' इस वाक्य से अंशावतार से भी हो सकता है।

संकर्षण का कार्य भूभारहरण है, प्रद्युम्न का कार्य वंशपरम्परा चलाना है, अनिरुद्ध का कार्य धर्मरक्षा करना है, और वासुदेव का मोक्षदान कार्य है। अतः उक्त कार्य तो व्यूह द्वारा हो सकते थे, अतः पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान की अभिव्यक्ति का प्रयोजन तो केवल निःसाधन प्राणिमात्र के कल्याण के लिये ही हुआ है।

शुकदेव जी ने यहां 'नृप' संबोधन दिया है, इसका आशय यह है कि जिस प्रकार राजा अन्य भृत्यादि द्वारा सर्व कार्य करता है, स्वयं तो किसी समय ही क्रीडाविशेष करने के लिये जाता है, उसी तरह भगवान भी भूभारहरण आदि कार्य व्यूह द्वारा कराते हैं, किन्तु निःश्रेयस शब्दवाच्य-उद्धार रूप कार्य तो स्वयं ही करते हैं। अन्य किसी प्रकार से पूर्ण पुरुषोत्तम स्वतन्त्र भगवान का प्राकट्य संभव नहीं हो सकता है। इसी बात को कहने के लिये भगवान के विशेषण कहते हैं कि प्रथम श्रीकृष्ण भगवान हैं, अर्थात् सदानन्द सर्व ऐश्वर्य संपन्न हैं, किसी के अधीन नहीं हैं, और काल कर्म स्वभाव के नियामक हैं, सर्वनिरपेक्ष हैं, किसी की अपेक्षा नहीं है, फिर इस प्रकार के भगवान श्रीकृष्ण व्यापि वैकुण्ठ से भूतल पर किसलिये पधारे हैं।

यदि कहो कि अपने कार्य के लिये नहीं पधारे हैं, दूसरों के साधन सिद्ध करने के लिये पधारे हैं।

तो परार्थ भी भगवान का पधारना सम्भव नहीं हो सकता है, इसी बात को आगे 'अव्ययस्य' इत्यादि चार पदों द्वारा कहते हैं।

अन्य लोगों का किया-कृति विषय अथवा ज्ञानविषय पदार्थ भगवान में उपयुक्त होता है, किन्तु भगवान तो अव्यय हैं, विकाररहित हैं, कारण कि विकारों को ही कृतिविषयता है, अतः भगवान कृति-क्रिया का विषय नहीं है, अर्थात् क्रिया से सिद्ध नहीं हो सकते हैं।

'अप्रमेयस्य' भगवान प्रमाण के विषय भी नहीं हैं, अतः अप्रमेय होने से ज्ञान के विषय भी नहीं हैं।

यदि कहो कि यह भगवान का प्राकट्य 'योगास्त्रयो मया प्रोक्ताः' इत्यादि से एकादश स्कंध में भगवान ने कर्म, ज्ञान और भक्ति तीन साधन कहे हैं, इन साधनों के करने वालों को फल देने के लिये ही है, तो भी यह कहना ठीक नहीं है, कारण कि वहां तो कर्म, ज्ञान और भक्ति के निर्बन्ध से भगवान का प्राकट्य होता है, और यहां तो स्वतः–अपने आप ही बिना किसी साधन निर्बन्ध के भगवान पधारे हैं। भूभारहरणादि कार्य तो पहिले कहे अनुसार अंश द्वारा भी होना संभव है, अतः इस समय भगवान का प्राकट्य केवल साधनरहित जीवों के निःश्रेयस-उद्धार के लिये ही हुआ है।

इसका निरूपण 'नायमात्मा' इस श्रुति में साधनान्तरनिषेधपूर्वक वरणैक लभ्यत्व से किया है।

इस समय प्रकट भगवान ज्ञानकृति से साध्य नहीं हैं। यदि कहो कि 'भक्त्यैव' इस श्रुति से भक्तिसाध्यता तो है। इसका उत्तर भी यही है कि इस समय भक्तिसाध्यता भी नहीं है, कारण कि देहादि भजन द्वारा भजनीय—सेवा करने योग्य भी नहीं हैं। भगवान निर्गुण हैं, गुण जिसमें से निकले हैं, उसको निर्गुण कहते हैं, भगवान में से गुण निकल गये हैं, गुण विद्यमान होने पर ही अन्य की प्राप्ति भगवान में हो सकती है।

जिस प्रकार भूख होने पर ही अन्नदान का उपयोग होता है, इन्द्रियां होने पर ही इन्द्रियों के विषयों का उपयोग होता है, किन्तु भगवान में तो गुण ही नहीं हैं, इसलिये भगवान में ऐसा कोई भी अंश नहीं है, जिसको सेवक पूरा कर सके, अतः भगवान भजनीय भी नहीं हैं। जब कि किसी प्रकार से सेवक की सेवा का उपयोग ही नहीं है, तो फिर उसकी की हुई सेवा आदि द्वारा भगवान का प्रसाद तो दुर्लभ ही होगा।

इस प्रकार साधन प्रकार से भगवान साध्य नहीं हैं, इसलिये अन्य का भगवान में उपयोग नहीं है, अतः इस समय का प्राकट्य भक्त्यर्थ भी नहीं है, किन्तु निःसाधन जीवों को फल देने के लिये ही है।

यद्यपि लीला करने के लिए भगवान किसी वस्तु की अपेक्षा भी रखते हों, तथापि सर्व भगवान ही हैं, कारण कि 'गुणात्मनः' सर्वगुणों के भगवान आत्मा हैं, इसलिये साधन प्रकार से भगवान में किसी अन्य पदार्थ का उपयोग नहीं हो सकता है, अतः स्व-अपना तथा पर–दूसरे का भगवान के प्राकट्य में प्रयोजन नहीं है।

यदि भगवान साधन निरपेक्ष मुक्ति का दान नहीं करते हैं तो आप का प्राकट्य प्रयोजनरहित ही हो जायेगा, इसलिये भगवान का प्राकट्य निःसाधन जीवों के उद्धार करने के लिये ही है॥ १४॥

(सुबो०) एवं सति येन केनाप्युपायेन य एव सम्बध्यते, तस्यैव मुक्तिर्भवतीत्याह—काममिति।

यदि कहो कि भगवान का अवतार निःसाधन सर्व प्राणियों के उद्धार के लिये हुआ है तो फिर उसी समय सर्व प्राणियों को मोक्ष क्यों नहीं हो गया।

इस शंका का निवारण करने के लिये कहते हैं कि मोक्ष में प्रथम कहे कर्म, ज्ञान आदि साधनों से अतिरिक्त व्यापारों का सम्बन्ध भगवान में निरन्तर रूप से अपेक्षित है, इसलिये जिस

किसी भी उपाय से मनुष्य का भगवान से सम्बन्ध हो जाता है, उसकी भी मुक्ति हो जाती है, इसी बात को आगे कहते हैं—'कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव वा। नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हिते ॥'

(सुबो०) कामादयः षट् साधनानि भगवत्सम्बन्धे। तत्र कामः स्त्रीणामेव, क्रोधः शत्रूणामेव, भयं वध्यानामेव, स्नेहः सम्बन्धिनामेव, ऐक्यं ज्ञानिनामेव, सौहृदं भक्तानामेव। सख्यं तेष्वेव सिध्यतीति। पूर्वसिद्धज्ञानभक्त्योः नात्रोपयोगः। तेषां मर्यादया स्वतन्त्राविर्भावस्य नियतत्वात्। एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्व—न्यायेन निर्णयः। वेत्यनादरे। अन्यो वा कश्चनोपायो भवेत्, परं सर्वदा कर्तव्यः, अन्यथा 'अन्ते या मतिः सा गति' रिति अन्यशेषतामापद्येत। कर्मवशाच्च नान्ते भगवतः स्मरणम्, अन्यस्येव, प्रपञ्चविरोधित्वाद्भगवतः। अतो नित्यं ये विदधते, ते तन्मयतामेव प्राप्नुवन्ति। ननु कामादिषु क्रियमाणेषु दुःखान्तराभिभवे कथं नित्यं करणं सम्भवति, तत्राह—हराविति। स हि सर्वदुःखहर्ता, नित्यं तद्भावनायां जगदेव तदात्मकं स्फुरति। दृष्टिः कामेनानुरक्तेति किम्पुनः स्वात्मा। अतस्तदात्मका एव भवन्ति। सर्वत्र भगवदावेशात्।

जीवेऽन्तःकरणे चैव प्राणेष्विन्द्रियदेहयोः।
विषयेषु गृहेऽर्थे च पुत्रादिषु हरिर्यतः ॥ १ ॥
तादृशीं भावनां कुर्यात् कामक्रोधादिभिर्यथा।
पूर्वप्रपञ्चविलयो यथा ज्ञाने तथा यतः ॥ २ ॥

किञ्च, आदावेव गोप्यो मुक्ताः, किमाश्चर्यम्, बहव एवाग्रे मुक्ता भविष्यन्तीति तदाह—न चैवमिति। एवं असंभावनारूपो विस्मयो न कार्यः। असंभावितबुद्धीनामन्यथा स्फुरणनियमात्। यतो भगवान्। यत्किञ्चिन्मोक्षे ज्ञानादिकमुपयुज्यते, एतत्सर्वं भगवत्येवास्ति। यदि ज्ञानव्यतिरेकेण मोक्षो न भवेदिति ज्ञास्यति, तदा सिद्धत्वात् ज्ञानस्य, तदपि दास्यति। किञ्च, अन्यः सन्देहं कुर्यादपि, भगवतो माहात्म्यं न दृष्टमिति, भवता तु न कार्यः गर्भ एव माहात्म्यदर्शनात्। किञ्च निर्दुष्टे सर्वं सम्भवति। तत्र दोषाणां मूलं जन्म, तदभावे दोषाभाव इति। तेन अजत्वात् निर्दुष्टः। अन्ये सर्वे हि जायन्ते, न तैस्तेषां मुक्तिः सम्भवति, तुल्यत्वात्। किञ्च यो हि साधनपरः स मुच्यते। तत्र साधनं मनः सर्वतो निवृत्तं, तथायोगेन भवति, तस्य योगस्य च नियामको भगवानेव। यद्यन्यस्यापि मोक्षो भवेत्, भगवदिच्छयैव भवेत्। योगादिसाध-

नानां तन्नियम्यत्वात्। किञ्च सदानन्दो भगवान् फलात्मा। यः कश्चिन्मुच्यते, स एतमेव प्राप्स्यति। अतः साधनैरप्ययमेव प्राप्यः। सोऽत्र स्वयमेव सम्बध्यत इति न किञ्चिदनुपपन्नम्। किञ्च एतत्परिदृश्यमानं सर्वमेव जगत् यतो विमुक्तिं यास्यति। भावनया गोकुले स्थित आह—ज्ञानदृष्ट्या वा। साक्षात्परम्परया वा सर्वानिवमोचयिष्यतीति। तदग्रे वक्ष्यति 'स्वमूर्त्येति' श्लोकद्वयेन ॥१५-१६ ॥

काम आदि ६ साधन भगवान से सम्बन्ध कराते हैं, उसमें भी काम १. स्त्रियों को ही भगवान से सम्बन्ध कराने में साधन है, 'गोप्यः कामात्' यह वाक्य है।

२. क्रोध शत्रुओं को ही सम्बन्ध कराता है, ३. भय बंधे हुओं को ही सम्बन्ध कराता है, ४. स्नेह सम्बन्धियों को ही, और ५. ऐक्य ज्ञानियों को ही तथा ६. सौहृद अविहित–(जो शास्त्र में नहीं कही) भक्ति वाले भक्तों को ही भगवत्संबंध कराने में साधन है 'कारण कि सख्यभाव भक्तों में ही होता है, सख्य में परस्पर दोनों की भावना से हृदय में स्थिति रहती है, नहीं तो जिस प्रकार एक हाथ से ताली नहीं बजती है, उसी प्रकार सख्यता भी सिद्ध नहीं होती है। 'मयि ते तेषु चाप्यहम्' इस वाक्य के अनुसार सख्यता भगवान की भक्तों में ही होती है, इसलिये सख्यता भक्तों में ही सिद्ध होती है।

अतः पूर्वोक्त काम आदि साधनों से फल सिद्ध हो जाता है, फिर पहिले कहे ज्ञान, भक्ति का उपयोग फल साधकता से नहीं है।

यदि कहो कि 'फल मत उपपत्तेः' इस न्याय से भगवान ही प्रकट होकर सर्व फलसाधन करते हैं, और भगवान के आविर्भाव में ज्ञान, भक्ति और भगवान की इच्छा, ये तीनों कारण हैं, फिर जो साधन भगवान का प्राकट्य कराते हैं, उन साधनों के नहीं होने से भगवान का आविर्भाव भी नहीं होगा, तो फिर मुक्ति किस प्रकार से होगी।

इस शंका का उत्तर यह है कि काम आदि की मर्यादा से ही भगवान का स्वतन्त्र आविर्भाव होता है, अर्थात् काम, क्रोध आदि की इतनी उत्कट तीव्र भावना हो जाती है कि जिस भावना से भगवान का प्रत्यक्ष हो जाता है। अतः ज्ञान भक्ति से निरपेक्ष, लौकिक मर्यादा से स्वतन्त्र भगवान का आविर्भाव, ज्ञान, भक्ति द्वारा सम्पादित आविर्भाव से भिन्न है। कारण कि मन के साथ ही चक्षु आदि इन्द्रियों का प्रवेश होने पर भावना में साक्षात्कार होता है, काम क्रोध आदि से इस प्रकार की भावना करने पर भगवान का आविर्भाव नियत है, इसमें आविर्भाव के लिये ज्ञान, भक्ति का उपयोग नहीं है।

ज्ञानी के लिये ज्ञान द्वारा, और भक्त को भक्ति द्वारा भिन्न ही आविर्भाव है, और वह ज्ञान भक्ति से ही होता है।

यदि इस बात को नहीं मानते तो स्तुति करने के समय में भीष्मपितामह की भावना से हृदय में प्रकट भगवान थे, फिर जब तक मैं अपने प्राण त्याग करूं तब तक पुरस्थिति की प्रार्थना करने पर भगवान सामने स्थित रहे, इससे ज्ञात होता है कि सर्वेन्द्रियों के विषय की सिद्धि अवतीर्ण भगवान में ही है, नहीं तो भीष्मपितामह पुरस्थिति की प्रार्थना नहीं करते।

अतः भक्ति और ज्ञान में भगवान का भिन्न ही आविर्भाव है, और काम-क्रोध आदि की भावना मात्र में भिन्न आविर्भाव है। इसमें किसी प्रकार की शंका को अवकाश नहीं है।

यदि कहो कि यह सब कहना आपका ठीक है, किन्तु जबकि भगवान अपनी इच्छा से अवतार लेते हैं, तब स्वेच्छावतार दशा में मर्यादा मार्गीय भी थे, फिर उनको सिद्धि किस प्रकार से हुई।

इस शंका का उत्तर टिप्पणी में कहते है कि अवतार समय में मर्यादा भक्तों के लिये भगवान पृथक् अवतार लेते हैं, अथवा उसी अवतार से मर्यादा भक्तों के लिये भी फल साधन करते हैं।

इस विषय का निर्णय सुबोधिनी में पूर्वमीमांसासूत्र का प्रमाण देकर कहते हैं कि 'एकस्यतूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्' 'एकस्य, अङ्गस्य तु उभयत्वे नित्यकाम्यत्वोभयत्वे, संयोगयोः प्रयोजकधर्मसम्बन्धयोः, पृथक्त्वं द्वित्वं प्रयोजकम्' अर्थात् किसी द्रव्य का पृथक्-पृथक् दो पदार्थों के साथ सम्बन्ध होने पर, वही द्रव्य एक समय में दोनों पदार्थों के उपयोग में आ सकता है, जहां इस प्रकार एक द्रव्य का दो पदार्थों के साथ सम्बन्ध हो तो ऐसी दशा में उसी एकद्रव्य से उसका फल साधन हो जाता है। फिर दूसरे द्रव्य की अपेक्षा नहीं रहती है, अतः यहां भी भगवान के एक ही स्वरूप से साधन वाले और निःसाधन वाले दोनों भक्तों को फलदान देने के लिये भगवान के आविर्भाव को उभयरूपता है।

यदि शंका करो कि एक जगह विनियोग हुए द्रव्य-स्वरूप का दूसरी जगह विनियोग करना न्यायसिद्ध नहीं है।

इस शंका को निवारण करने के लिये निर्णायक न्याय कहते हैं कि 'संयोगपृथक्त्वम्' इसका उदाहरण यह है कि जिस प्रकार हवन करने में ही नियुक्त की गई पर्णमयी जुहू अर्थात् पत्ता से निर्मित जुहू के एक समय में दो कार्य साथ हैं, प्रथम हवन करना और दूसरा पर्णमयीत्व गुण योग से पापश्लोक श्रवण का अभाव साधन करना भी है, अर्थात् एक ही जुहू से हवन होता है, और अकीर्ति का निन्दा का नाश भी होता है, इसके लिये दूसरी जुहू की अपेक्षा रहती नहीं है, कारण कि 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' इस श्रुति से हवन के लिये ही निर्मित पर्णमयी जुहू को ही निन्दानाश रूप फल भी कहा है। इसी प्रकार प्रकृत में भी भूमि आदि का क्लेश दूर करने के लिये भगवान का आविर्भाव भी तत्तद्भक्त का योग होने पर तत्तत्फल साधन करता है, पृथक् अवतार लेने की अपेक्षा नही हैं, यहाँ यह भी जानना चाहिये कि पुष्टि मर्यादा भेद से दो प्रकार के भक्तों को फल साधन सर्व शक्तियों के प्राकट्य पूर्वक अवतीर्ण पूर्ण स्वरूप एक ही भगवान का अवतार एक समय में पुष्टि भक्तों का कार्य तथा मर्यादा भक्तों का कार्य सिद्ध कर सकता है।

गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथ जी टिप्पणी में कहते हैं कि जिस समय भगवान केवल मर्यादामार्ग स्थापन करने के लिए प्रकट होते हैं, उसी समय पुष्टिमार्गीय भक्तों का इष्ट फल पूरण नहीं करते हैं, इसी प्रकार जिस समय केवल पुष्टिमार्गीय भक्तों के लिये भगवान अवतार लेते हैं, उस समय मर्यादा मार्गीयभक्तों का इष्ट फल पूरण नहीं करते हैं।

इसीसे दण्डकारण्यवासी ऋषियों की इष्ट फल पूर्ति श्री कोसलेन्द्र श्री राम ने नहीं की थी, श्रीमद्गोकुलचन्द्र ने पुष्टिलीला में अनधिकार के कारण यज्ञपत्नियों की इष्ट फल पूर्ति नहीं की थी।

आगे मथुरा आदि में प्रद्युम्नादि रूप से भगवान ने लीला की है, इसलिये तत्तद् भक्त के अनुरूप फलदान दिया है।

श्री पुरुषोत्तम जी ने उक्त न्याय के ऊपर विशेष शास्त्रार्थ लिखा है, जिसका आशय इस प्रकार है, किसी ने पूर्व पक्ष किया है कि आचार्यों ने यहां 'संयोग पृथक्त्व न्याय का जो उदाहरण

दिया है, वह संभव नहीं होता है। कारण कि फलश्रुति को अर्थवादवाक्यनिष्ठत्व है, और अर्थवाद प्रशंसापरत्व होनेसे विधेय की स्तुति करने वाला है, इससे फल विधि के मध्य इसका अभाव है। और विहित का फल जो नियत है, वही होता है, अन्य फल नहीं होता है, इसलिये स्तुति को असद्वस्तु में आरोप रूपत्व है, अतः उक्त उदाहरण संभव नहीं होता है। किन्तु 'खादिरे बध्नाति' खैर के यूप में बांधता है, 'खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्यात्' वीर्य कामना वाला खैर का यूप करे, 'दध्ना जुहोति' दही से हवन करता है, 'दध्नेन्द्रिय कामस्य जुहुयात्' दही से इन्द्रिय कामना वाला हवन करे' इत्यादि यहां उदाहरण देने चाहिये। इस प्रकार कोई कहते हैं।

इसके उत्तर में कहते हैं कि यदि ऊपर कहे अन्य लोगों के उदाहरण यहां मानते हैं तो वेद से विरोध ही प्राप्त हो जायेगा, कैसे, तब वेदविरोध का स्पष्टीकरण करते हैं कि वेद परम आप्त है, अथवा आप्त वाक्य है, वह वेद यदि असद् वस्तु को सत्यता से स्तुति के लिये निरूपण करे तो वेद मिथ्यावादी होने के कारण सभी अनाप्त ही हो जाये।

कारण कि एक जगह वेद मिथ्यावादी है, इस प्रकार जानने पर फिर दूसरी जगह सत्यवादी है, इस प्रकार का विश्वास नहीं होगा इसलिये विधिवाक्यों में कहे फल में भी पूर्वोक्त तुम्हारी कही कल्पना कर सकते हैं, अतः विधिवाक्यों के प्रामाण्य की रक्षा करने के लिये ही अर्थवाद आदि भी फल विधिरूप से स्वीकार करने चाहिये।

जिस प्रकार 'अक्ताः शर्करा उपदधाति' 'तेजो वै घृतम्' यहां पर घृत विधि से अभिप्रेत नहीं है, तो भी अर्थवाद नहीं है, उसकी स्तुति करे, इस प्रकार स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार अन्यत्र भी फल अभिप्रेत न होने पर भी अर्थवाद नहीं कहे, यह भी स्वीकार करना चाहिये। कारण कि एकवाक्यत्व की अनुपपत्ति दोनों जगह ही तुल्य है।

यदि कहो कि प्राशस्त्य परता से ही एक वाक्यत्व अभिप्रेत है, फल समर्पकत्व से नहीं है तो इस प्रकार कहना ठीक नहीं है, कारण कि वाक्य में कहा फल समर्पकत्व से अतिरिक्त प्राशस्त्य यहां नहीं दीखता है, इससे अन्य की कल्पना नहीं कर सकते हो, किसी प्रकार कल्पना करने पर तो रात्रि सत्राधिकरण न्याय से कल्पना किया बाध कह सकते हैं।

यदि कहो कि यहां काम शब्द का अभाव है, इसलिये विधि का भी यह फल अभिप्रेत नहीं है।

इसके उत्तर में कहते हैं कि इस प्रकार भी कहना ठीक नहीं है, यदि उक्त कहा मानेंगे तो रात्रिसत्राधिकरण में प्रतिष्ठा का भी विधिफल नहीं होगा, कारण कि 'प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एता रात्री रुपयन्ति' यहां भी काम शब्द नहीं कहा है।

यदि कहो कि वहाँ अगति से काम शब्द स्वीकार करते हैं, और यहां तो हवन निष्पादकत्व से भी फलवत्व संभव है, अतः अर्थवाद में कहा फलग्रहण करने में कोई बीज नहीं है, इस प्रकार भी मत कहो, जिस किसी भी जुहू से हवन निष्पन्न संभव होने से फिर पर्णमयी जुहू का कुछ भी फल नहीं दीखता है, अतः विधिवाक्यों से अभिप्रेत ही फल को अर्थवाद कहते हैं, और स्तुति लक्षण उत्कर्ष करने वाले गुण का वर्णन भी करता है इस प्रकार सर्वसामञ्जस्य के लिये स्वीकार करना चाहिये, इसलिये यहाँ कोई अनुपपन्न-अयुक्त नहीं है। इस प्रकार श्री पुरुषोत्तमजी ने प्रकाश में कहा है, यद्यपि उक्त शास्त्रार्थ सर्वसाधारण के अनुपयोगी है; तथापि सभी साहित्य के अनुवाद में यथामति इसका भी कर दिया है।

प्रकृत विषय में श्री विट्ठलनाथ जी के आशय को श्री पुरुषोत्तमजी कहते हैं कि यद्यपि एक प्राकट्य से दोनों प्रकार के ही भक्तों के लिये फलदान न्यायसिद्ध है, तथापि श्रीमदाचार्यों

का यहां यह आशय नहीं है, किन्तु पहिले कही फक्किका के अनुसार ही है, फक्किका इस प्रकार है कि 'पूर्वसिद्धज्ञानभक्त्योः नात्रोपयोगः, तेषां मर्यादया स्वतन्त्राविर्भावस्य नियतत्वात्' अर्थात् पूर्वसिद्ध ज्ञान और भक्ति का यहां उपयोग नहीं है, कारण कि काम, क्रोध आदि की मर्यादा से भगवान का स्वतन्त्र आविर्भाव नियत है।

और पूर्वमीमांसा का न्याय जो यहां आचार्यों ने कहा है, वह तो इसलिये कहा है कि भगवान की इच्छा स्वतन्त्र है, कभी एक ही अवतार द्वारा पुष्टि मार्गीयभक्त, एवं मर्यादामार्गीय-भक्त, दोनों को फलदान दे सकते हैं, इसलिये कहा है, मूल के आशय से भी श्रीमदाचार्यों को उक्तपक्ष-एक ही स्वरूप दोनों प्रकार के भक्तों को फल देता है, यह अभिप्रेत नहीं है, मूल में 'वा' पद दिया है, इसका अर्थ अनादर है, अर्थात् कहे हुए कामादि छै ही साधन हैं, अन्य साधन नहीं हैं इस प्रकार न समझना चाहिये, किन्तु उक्त छै साधनों से अतिरिक्त अन्य कोई और भी साधन उपाय भगवान से सम्बन्ध करने में हो, तो उसे सर्वदा करना चाहिये। नहीं तो 'अन्ते या मतिः सा गतिः' इस न्याय से उपाय सर्वदा नहीं होता है तो उसकी भावना भी उपाधि रूप होने से सर्वदा नहीं होती है, अतः अन्त में देवतान्तर का स्मरण हो जाता है, और अन्यशेषता-जिसका स्मरण होता है, उसी देवता का पुरुष को सायुज्य हो जाता है।

भगवद्भावना से तदात्मकत्व की स्फूर्ति होती है, और तदात्मकत्व की स्फूर्ति से कर्मों का क्षय हो जाता है, कर्मक्षय के अनन्तर भगवदात्मकतारूप तन्मयता होती है, यदि भावना सर्वदा नहीं होती है तो तन्मयता नहीं होती है।

अन्त समय पुत्र आदि का स्मरण होता है तो 'प्रजामनु प्रजायन्ते' इस श्रुति के अनुसार पुत्रादिमयत्व होकर पुत्रादि सम्बन्धी जन्म होता है।

यदि कहो कि जिस प्रकार काम आदि के अभाव में भी अदृष्य वश से ही कामादि का स्मरण होता है, उसी प्रकार भगवान का भी स्मरण हो जायेगा फिर सर्वदा भावना क्यों की जाये ?

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि कर्मवश से कामादि की तरह अन्त में भगवान का स्मरण नहीं होता है, कारण कि भगवान प्रपञ्चविरोधी हैं, जहां भगवान हैं, वहाँ प्रपञ्च-जगत् नहीं है, और जहाँ प्रपञ्च है वहाँ भगवान नहीं हैं, अतः जो लोग भगवान में नित्य निरन्तर भावना करते हैं, वे लोग कीटपेशस्कृत न्याय से तन्मयता को ही प्राप्त होते हैं।

यदि कहो कि जो मनुष्य भगवान में काम-क्रोधादि करे तो उसको अन्य दुःख भी सताते हैं, फिर नित्य निरन्तर भावना करना किस प्रकार संभव हो सकता है।

इस शंका का समाधान मूल में 'हरी' इस शब्द से किया है, अर्थात् हरि सर्वदुःखहर्ता हैं, भावना विषय के स्वभाव से ही दुःख भान नहीं होता है।

यहाँ पर इस प्रकार क्रम है कि प्रथम भगवद्भावना, फिर तदात्मकत्व का स्फुरण, इसके अनन्तर कर्मों का क्षय, (कर्मक्षय यहां अवान्तर फल है।)

जिस मार्ग में काम आदि छै साधनों द्वारा भगवत्प्राप्ति है, वहाँ फिर गोपियों की भी दृष्टि कामभाव से भगवान में अनुरक्त थी, अर्थात् गोपस्त्रियों ने कामभावना नित्य निरन्तर की, इसलिये इनको सर्वजगत् भगवन्मय स्फुरित हुआ है, फिर गोपियों की आत्मा भगवन्मय हो जाये तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

जो नित्य निरन्तर भगवान में किसी भी भाव को करते हैं, वे भगवदात्मक ही भगवदावेश द्वारा हो जाते हैं, अर्थात् उनके सर्वत्र शरीर इन्द्रिय आदि में भगवान का आवेश स्फुरित हो जाता है। इस प्रकार भगवान का आवेश अतिविगाढ भगवद्भावना होने पर देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण और जीव में हो जाता है, फिर आवेश से जिस समय भगवद्भाव की स्फूर्ति हो जाती है, उस समय देह आदि के सम्बन्धियों में भी भगवद्भाव का भान हो जाता है, इसी बात को श्री आचार्य दो कारिकाओं में आगे कहते हैं।

जीवेऽन्तःकरणे चैव प्राणेष्विन्द्रिय—देहयोः।
विषयेषु गृहेऽर्थे च पुत्रादिषु हरिर्यतः ॥ १ ॥
तादृशीं भावनां कुर्यात् कामक्रोधादिभिर्यथा।
पूर्व प्रपञ्च-विलयो यथा ज्ञाने तथा यतः ॥ २ ॥

पदपदार्थ—(जीवे) जीव में (अन्तःकरणे) अन्तःकरण में और (प्राणेषु) प्राणोंमें (इन्द्रियदेहयोः) इन्द्रिय और देह में (विषयेषु) विषयों में (गृहे) घर में (अर्थे) अर्थमें (पुत्रादिषु) पुत्रादिकों में (यतः) जिससे (हरिः) हरि हैं। (तादृशीं) इस प्रकार की (भावनां) भावना को (कामक्रोधादिभिः) कामक्रोध आदि द्वारा (कुर्यात्) करे (यथा) जिसप्रकार से (पूर्वप्रपञ्चविलयः) पूर्व प्रपञ्च का नाश (यथा) जिस प्रकार (ज्ञाने) ज्ञान होने पर हो जाता है, (तथा) उसी प्रकार (यतः) भावना से पूर्व प्रपञ्च का विलय हो जाता है ॥ १–२ ॥

जिस समय मनुष्य की भावना भगवान में अति तीव्र हो जाती है, उस समय इसके जीव अन्तःकरण, प्राण, इन्द्रिय, देह, विषय, घर, अर्थ और पुत्रादि में हरि भगवान आविष्ट हो जाते हैं, काम क्रोधादि से इस प्रकार की भावना करनी चाहिये, जिस प्रकार ज्ञान होने पर पूर्व प्रपञ्चका लय हो जाता है, उसी प्रकार काम क्रोधादि की भावना से भी प्रपञ्च विलय होकर भगवत्मयता हो जाती है ॥ १–२ ॥

अब श्री शुकदेव जी कहते हैं कि हे राजन् ! पहिले सारस्वत कल्प के पूर्व ध्यानकल्प में ही गोपियां मुक्त हो गईं, इसमें क्या आश्चर्य है, आगे भी बहुत से मुक्त हो जायेंगे, इसी बात को 'न चैवं विस्मयः कार्यः' इस सोलहवें श्लोक में कहते हैं।

हे राजन् ! इस प्रकार तुमको भगवान में असंभावनारूप विस्मय नहीं करना चाहिये, (जो भगवान में संभव नहीं हो उसको असंभावना कहते हैं) कारण कि इस प्रकार की असंभावित बुद्धि वालों को अन्य ही स्फुरण होता है, इस प्रकार का नियम है। अतः प्रभु की लीला में तुमको थोड़ा भी संदेह नहीं करना चाहिये, कारण कि यह तो भगवान हैं, जो कुछ मोक्ष के साधन में ज्ञानादिक की अपेक्षा होती है, वह सब भगवान में ही पहिले से सिद्ध है।

यदि भगवान इस बात को जानेंगे कि ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं होती है तो सिद्ध होने के कारण उस समय ज्ञान का भी प्रदान कर देंगे।

शुकदेव जी राजा से कहते हैं कि जिसने भगवान का माहात्म्य नहीं देखा है, वह अन्य कदाचित् सन्देह करे भी, किन्तु तुमने तो गर्भ में ही भगवान का माहात्म्य देख लिया है, अब तुमको सन्देह नहीं करना चाहिये।

जो वस्तु निर्दुष्ट-दोषरहित होती है, उसमें सर्वसंभव होता है, कारण कि दोषों का मूल-कारण जन्म है, जन्म नहीं होता है तो दोष भी नहीं होते हैं, भगवान तो स्वयं अज-जन्म-रहित हैं इसलिये दोषरहित हैं, भगवान से अतिरिक्त अन्य सब जन्म लेते हैं इसलिये दोषसहित

होने से जन्म लेनेवालों के द्वारा जीवों की मुक्ति संभव नहीं होती है, कारण कि दोनों ही जन्म लेने वाले तुल्य दोषसहित हैं।

और जो साधन करता है वह मुक्त होता है, सवं वस्तु से मन को निवृत्त करना साधन है, मन की निवृत्ति योग से होती है, योग का नियामक-ईश्वर भगवान ही है, यदि किसी अन्य का भी मोक्ष होता है तो भगवान की इच्छा से ही होता है, कारण कि योग आदि जितने साधन हैं, उनका नियमन भगवान ही करते हैं। सदानन्द कृष्ण भगवान फलात्मा हैं, जो कोई मुक्त होता है वह कृष्ण को ही प्राप्त होता है, अतः साधनों द्वारा भी ये ही कृष्ण प्राप्य हैं। वह श्रीकृष्ण फलात्मा व्रज में स्वयं ही प्रकट होकर सम्बन्धित हैं, अर्थात् उनका गोपियों को साक्षात् सम्बन्ध हो रहा है, अतः इसमें कोई बात अयुक्त नहीं है।

यह परिदृश्यमान सब जगत् ही कृष्ण भगवान के द्वारा विशेष मुक्ति को प्राप्त होगा।

इस प्रकार श्रीशुकदेव जी भावना से गोकुल में स्थित हैं, अथवा ज्ञानदृष्टि से कह रहे हैं कि भगवान साक्षात् अथवा परम्परा से सब को मुक्त करेगा, इस बात को आगे एकादशस्कंध के प्रथम अध्याय में 'स्वमूर्त्या' इत्यादि दो श्लोक से कहेंगे ॥ १५-१६ ॥

अब श्री विट्ठलनाथ जी अपने स्वतन्त्र लेख में श्लो० १२ से १६ तक का अर्थ इस प्रकार करते है--

(यद्वा, अत्र राजानुपपत्तिं शङ्कते—कृष्णमिति। एताः कृष्णं कान्तं परं विदुः, न तु ब्रह्मतया, अतो गुणप्रवाहोपरमः कथं संगच्छत इति।

अत्रायं भावः। ब्रह्मत्वेन विज्ञानं हि शास्त्रीयम, तच्च सात्त्विकं भवितुमर्हति। 'सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञान'मिति वाक्यात्। एतास्तु गुणातीतस्यानन्दमात्रकरपादमुखोदरादेः प्रकटस्यानन्तगुणपूर्णस्य सौन्दर्यादिगुणेषु परिनिष्ठितधियः। अतो निर्गुणत्वाद् गुणप्रवाहोपरमः कथं संगच्छते। उपरमस्याभावरूपत्वेन प्रतियोगिसापेक्षत्वादत्र च प्रतियोगिन एवाभावादिति।

मुन इति सम्बोधनं शुद्धसत्त्वाविर्भावे ज्ञानोदयस्यानुभवसिद्धत्वेन संवादार्थम् ॥ १२ ॥

अत्रोत्तरमाह-उक्तमिति। पुरस्तात् सप्तमस्कंधे 'गोप्यः कामादि'त्यादिना। अत्रायमर्थः। यथा भगवति गुणातीत एव परिनिष्ठितबुद्धित्वेऽपि द्वेषस्य तत्र प्रयोजकत्वात् चैद्यादीनां तामसत्वम्, तथैतासामपि निर्गुण एव परिनिष्ठितबुद्धित्वेऽपि जारत्वबुद्धेस्तत्र प्रयोजकत्वात् सगुणत्वमेवेति लक्ष्यते। अयं च रसः सर्वभावप्रपत्त्येकलभ्यः। न हि जारत्वबुद्धौ सर्वभावप्रपत्तिः। कामपूरकत्वेनैव तत्संभवनियमात्। अत्र च सगुणत्वस्य प्रतिबन्धकत्वाद्यथा चैद्यादीनां स्वाधिकारानुसारेण तादृशशरीरनाशे तत्पदप्राप्तिः स्वाधिकारानुसारेण, तथैतासामपि स्वाधिकारानुसारेण तथात्वे सगुणत्वोपरमेण सर्वभावप्रपत्त्यैव ततो निजपतिभजनमिति सर्वमवदातम्।

अन्यथा 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति मर्यादा भज्येत। एतदेव मनसि कृत्वाह—उक्तं पुरस्तादेतत्त इति। ननु तथापि तादृशप्रपत्तेरेव मूलत्वात्कथं सर्वभावप्रपत्तिसाध्यं फलं भविष्यतीत्यत आह—द्विषन्नपीति। अयमर्थः—मोक्षसुखानभीप्सुस्तद्विरुद्धद्वेषकर्ता च चैद्यः। तस्मै यथा ज्ञानिनामपि दुर्लभां मुक्तिं दत्तवान्, एवं तादृक्प्रपत्तिमूलानामप्येतासां तादृशं फलं दत्तवानिति।

एतेन यथा द्वेषमुक्त्योस्तारतम्यम्, तथान्यशेषभजनैतद्रसयोरपीति सूचितम्।

ननु गोकुलस्य भगवत्क्रीडोपयोगित्वेन सर्वथाङ्गीकृतस्य सर्वस्यैव निर्गुणत्वे कथमेतासां सगुणत्वमुच्यते। किञ्च, अग्रेऽपि यदि सर्वभावप्रपत्तिलभ्यमेव फलं दित्सितं भगवतः, तदा पूर्वमेव स एव भावः किमिति नोत्पादित इति चेत्।

अत्र वदामः। यासां साक्षाद्भगवत्सम्बन्धस्तासां सर्वासामेव रासमण्डलमण्डनानां शरीरमपि गुणातीतमेवेति ज्ञापयितुं भगवानेव कतिपयगोपीः सगुणदेहाः स्थापयित्वा, पूर्वोक्तानां भावोऽपि निर्गुण इति ज्ञापयितुमासां सगुणं भावमुत्पाद्य, एतन्निवर्तकोऽपि स्वयमेव, नान्य इत्यपि ज्ञापयितुं तन्निवृत्तिं विधाय, अग्रे भाविस्वविरहजदुःखस्वसङ्गमजसुखयोः कर्माजन्यत्वमपि ज्ञापयितुं कर्मक्षयप्रकारेण स्वप्राप्तिं विधाय मत्स्वाम्येव सर्वमिदं कृतवानिति निगर्वः।

अत्र पुष्टिमार्गाङ्गीकारान्मर्यादामार्गीयानुपपत्तयोऽनवसरपराहता इति सर्वमनवद्यम्। अतएव श्रीशुकोऽपि 'जुहुर्गुणमयं देहमि'ति सगुणदेहत्यागमेवोक्तवान्, अग्रे गुणातीततत्प्राप्त्यभिप्रायेण, गोप्यत्वात्स्पष्टं नोक्तवान्। अन्यथा गुणमयपदवैयर्थ्यं स्यात्।

ननु पूर्वोक्तज्ञापनायैवेदं कृतवानिति कथं ज्ञेयम्, उपपत्त्यभावादित्याशंक्योपपत्तिमाह—नृणामिति। अयमाशयः। लीलायां तत्स्थितभक्तेषु च सुतरां रासस्थासु, या साधारणत्वबुद्धिः, सा सदोषत्वारोपापरपर्याया। तासामगुणत्वात्तस्य दोषरूपत्वाद् भगवत्स्वरूपे लीलायां च सगुणत्वप्रसञ्जकत्वाच्च। एवं सत्येतल्लीलाया मुक्तिप्रतिबन्धकत्वमेव स्यात्, न तु तद्धेतुत्वम्। तथा सत्यवतारप्रयोजनं निरुध्येतेत्यन्यथानुपपत्त्यैव तथोच्यत इति। ज्ञापनप्रयोजनमपीदमेवेति ज्ञेयम्। व्याख्यानं पूर्ववत्।

नन्वियदवधि सगुणास्वेतासु कृताया लीलायाः पूर्वोक्तदोषप्रसञ्जकत्वं दुर्वारमित्याशंक्य पूर्वलीलाकृतितात्पर्यमाह—काममिति।

इदं हि साधारण्येनोच्यते। य एवं नित्यं विदधते, ते तन्मयतां यान्तीति, न त्वेतद्गोपभार्याविषयकमेव। अतएव क्रोधाद्युक्तिरपि। अन्यथाऽप्रस्तावेनात्र तन्निरूपणमयुक्तं स्यात्। तथा च सगुणेनापि भावेन भजते भगवान् स्वानुरूपमेव फलं ददातीति ज्ञापनाय पूर्वलीलेत्यर्थः।

अन्यथा मुख्याधिकारिणामेव भगवत्प्राप्तिरिति ज्ञानेऽन्येषामप्रवृत्त्या मुक्त्युच्छेदः स्यात्।

एवं शास्त्रमप्रयोजनकं च स्यात्। मुख्याधिकारिणां स्वत एव प्रवृत्तेः। स्वरूपलीलयोस्तु न कदाचित्सगुणत्वम्, लीलाविषयाणां सगुणानामपि निर्गुणापादकत्वात्। नहि दोषनिवर्तकमौषधं रोगिसम्बद्धं सत् तद्वद्भवति। तथा सति तदनिवर्तकत्वापत्तेः। लीलाया विषयसाजात्यनियमे सगुणनिर्गुणभक्तयोरेकया वेणुवादनादिलीलया निरोधो नोपपद्येत। क्रोधादिवत्कामोपाधिकभावस्यापि जघन्यत्वज्ञापनायापि क्रोधादिनिरूपणं ज्ञेयम्। तन्मयतां निर्गुणतामित्यर्थः।

ननु साक्षादङ्गसङ्गित्वेपि सगुणत्वस्थितिं वस्तुशक्तिः कथं सहते। वह्निसम्बन्ध इव तूलस्थितिमित्येको विस्मयः। लौकिकरीत्या कामभाववतीष्वलौकिकस्य रमणं द्वितीयः। क्रोधादिभाववतां तत्फलमननुभूयैव भगवत्प्राप्तिश्चापरः। स्नेहवत् समानफलत्वं च। यशोदानन्दने हि ता भाववत्यः, तस्य च वनस्थितस्यै ध्यानप्राप्तिश्चान्यः। एतासां तदैव निर्गुणदेहप्राप्तिर्विनैव तत्साधनमिति चेतरः। सर्वात्मभाववत्स्वेव करिष्यमाणलीलाया अनुभवः।

अन्यस्यास्तु तद्रहितानामपीत्यनेकविस्मयाविष्टं राजानं ज्ञात्वा तन्निवारकं क्रमेण वदन् पूर्वश्लोकोक्तभाववतां भगवत्प्राप्तौ हेतूनप्याह—न चैवमिति। आद्यविस्मयाभावार्थमाह—भवतेति। अत्रायं भावः। पूर्वमनिवर्त्त्यब्रह्मास्त्रतोऽपि गर्भेऽपि रक्षितवान् भवन्तम्, प्रयोजनमस्तीति। अधुना तु तदभावाद् बालवाक्यादपि न रक्षतीति भवतैवानुभूयते। न हि एतावता वस्तुशक्तौ काचिन्न्यूनता। इच्छाशक्त्यधीनत्वात्सर्वासां शक्तीनाम्। तस्याः सर्वतोऽधिकत्वात्। न हि मन्त्रप्रतिबन्धदशायामग्नेरदाहकत्वमिति तच्छक्त्यपगम एवेति वक्तुं युक्तम्। प्रकृतेऽपि यासां साक्षादित्यादिनोक्तयोजनार्थं भगवता तथा कृतमिति ज्ञात्वा भवता तु विस्मयो न कार्यः। अनुभावाननुभवेनान्यः कुर्यादपीति।

द्वितीय-तृतीयादिकं परिहरति—भगवतीति। तत्रेश्वरो हि सर्वरसभोक्ता भवति। 'सर्वरस' इति श्रुतेः। कामरसो हि तादृशभाववतीषु विशिष्टोऽनुभूतो भवति। कामशास्त्रे तथैव निरूपणात्। तथा चैश्वर्यवत्ययं विस्मयो न कार्यः। तथा भगवद्वीर्यस्येतरसाधनासाध्यसाधकत्वेनात्युग्रत्वात् क्रोधादिदोषमन्यानिवर्त्त्यमपि स्ववीर्येण हरिर्निवारयितुं समर्थ इति तादृशे स विस्मयो न कार्यः।

यशो ह्यसाधारणम्, असाधारणे कर्मणि सति भवति। यदि स्नेहवत्स्वेव मुक्तिं दद्यात्, न द्विट्सु, तदान्यसाधारण्येनासाधारणं यशो न स्यात भयद्वेषादिमत्स्वपि स्नेहादिमत्समानफलदाने ह्यसाधारणत्वेनासाधारणं यशः स्यात्। तथा च तादृशयशसः सहजत्वेन तद्ज्ञापकधर्मा अपि हरौ सहजा एवेति नायं विस्मयः कार्यः। श्रीर्लक्ष्मीः। सा चैतादृशस्नेहवती यद्वक्षसि स्थितिं प्राप्यापि चरणरजः कामयते, प्रत्यवतारं चावतरति। सदा तद्वत्त्वेन हरिः स्नेहरसाभिज्ञ इति तद्वत्सु स्वरूपदानं युक्तम्।

ऐक्यं हि ज्ञानमार्गे। हरेश्च ज्ञानवत्त्वेन तेषु तथा युक्तम्। सौहार्दं हि सख्ये सति भवति। तच्च समानशीलव्यसनेष्वेव।

'नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना। श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा।

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्। मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि

इत्यादिवाक्यैर्यथा भगवतो भक्तातिरिक्ते रागाभावो, भक्तेष्वेव च राग इति वैराग्यवत्त्वम्, तथा भक्तानामपि भगवतीति सौहार्दयोग्येषु सौहार्दं ददातीति पूर्वोक्तवैराग्यवत्त्वात् तेषु तथाकरणं युक्तमिति भावः।

यशोदानन्दन इत्यादिनोक्तविस्मयाभावार्थमाह—अज इति। यदि भगवतो जीववत् कुत्रापि जन्म स्यात्, तदान्यत्र बहिःस्थितोऽत्रान्तर्हृदि कथमागतः, तत्र सन्नेवेति शङ्का स्यात्। तदभावात्। स्वेच्छया यथा मायाजवनिकां दूरीकृत्य यशोदागृहे प्रकटः, तथा वने तथैवान्तर्हृद्यपीत्यजे नायं विस्मयः कार्यः।

अग्रिमोक्ततदभावार्थमाह—योगेश्वरेति। योगिनो हि योगबलेन भोगार्थमनेकानि शरीराणि युगपत्क्षणमात्रेण सृजन्ति। तेषां च योग आगन्तुको धर्मः। भगवांश्च तादृग्धर्मसम्पादकः फलदाता चेति तेषामपीश्वर इति सहजानन्तशक्तिमानिति तास्वलौकिकदेहसम्पादनमात्रं न विस्मयहेतुर्भवितुमर्हति।

अग्रिमतदभावायाह—कृष्ण इति। 'कृषिर्भूवाचक' इतिवाक्यात् सदानन्दस्वरूपी भगवान्, निर्दोषपूर्णगुण इति यावत्। तेन कृष्णातिरिक्तस्य वस्तुमात्रस्यैव सदोषत्वातत्रापि स्वास्थ्यहेतुत्वं जानतः सदोषत्वमेवेति निश्चयः।

इयं च लीलास्वरूपानन्दरूपा तादृश्येवेति सर्वात्मभावरहितेष्वेतदनुभवायोग्यत्वान्नायं विस्मयः कार्य इत्यर्थः।

किञ्च, एतासां तु स्नेहः पूर्वोक्तः साधनत्वेनासीत्, 'गोकुलं त्वद्व्यापृतं निशि शयान'मितिवाक्यात् सर्वसाधनविमुखं सदपि प्रतिक्षणं स्वरूपे लीयते, अग्रिमाग्रिमलीलारसानुभवार्थम्, भगवान् परं पुनः पुनः पृथक्कृत्य तामनुभावयतीत्यचिन्त्यानन्तशक्तिमति न किञ्चिदाश्चर्यमित्याशयेनाह – यत एतदिति। शुकस्त्वधुना लीलेतराननुसंधानाद्भावनया तत्रैव स्थित इत्येतदित्युक्तवान्, वर्तमानप्रयोगं च कृतवान्, तामेव लीलामनुभवतीति सर्वमनवद्यम्।

नन्वेतद्वैपरीत्यमपि सुवचनम्। तथाहि। एता अपि पूर्वोक्तमध्यपातिन्य एव। अत एव पूर्वश्लोके तासामनिवृत्तिमुक्त्वा तादृशी सा लोकेऽत्यसम्भावितेति सा कथमुपपद्यत इत्याशङ्कानिरासायाह—अन्तर्गृहेत्यादि।

अत्राद्यं भावः। पूर्वं हि वचनेन निवर्तनम्। तथा सति निवृत्तिर्हि विपरीतस्वक्रियया भवति। सा चातिदूरे, यतस्तत्सजातीयाः काश्चिद्भर्त्रादिकृते क्रियया प्रतिबन्धे तत्प्रतिबध्यं देहमपि त्यक्त्वा भगवत्सङ्गता जाताः। तथा चैतादृश्यः पूर्वोक्ताः सर्वा इति युक्तैवानिवृत्तिः।

किञ्च, तद्भावनायुक्ता इति पदे तच्छब्दस्य पूर्वपरामर्शित्वेन पूर्वं च पूर्वोक्तानामेव भावस्योक्तत्वादेतद्भावसजातीयभाववत्त्वं पूर्वोक्तामपीति गम्यते। तेनैतन्निष्ठाशेषधर्मवत्त्वं तत्रापि सिध्यति। एतासां मुक्तिर्दत्तेति तन्निवृत्तिं विना न सेति तथोक्तम्। तासां न तथेति न तथोक्तमिति चेत्।

शङ्काढ्यमानिनो मौढ्यदार्ढ्यं तव। यस्मादालोचनलोचनराहित्येन बाहिर्मौख्यासत्सङ्गाख्यगिरिगर्ताघातपातविवशाशयः परोक्तमपि नानुसंधत्से। तथाहि। यच्छङ्कानिरासायैतत्कथावतारिता, तद्भावश्च त्वया वर्णितः, तत्र त्वां पृच्छामः, तदर्थमियं कथा कल्पिता, उत सिद्धैवानूदिता। अन्त्य एव संमतश्चेत्, तत्रापि त्वां पृच्छामः, एतासां प्रतिबन्धे को हेतुरिति। स्वप्रियास्वपि सगुणत्वं स्थापयितुमेतासां प्रतिबन्धो हरिणैव कृत इति चेद्ब्रवीषि, हन्त एवं विचारकस्य तव शतधा हृदयं नास्फुटत् कुतस्तन्न जानीमः। यतो मर्यादाभक्तिमार्गीयसेवाविषयकश्रद्धाया अपि निर्गुणत्वम, तत्र साक्षादङ्गसङ्गिनीषु सगुणत्वं ब्रवीषि।

किञ्च, 'ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिका' इत्यादिना प्रभुणैव, 'एताः परं तनुभृत' इत्यादिनोद्धवेन, 'नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यून' इत्यादिना भगवता स्तुतेनापि चरणरेणुप्रार्थनापूर्वकं स्तुता इति क्व तद्गन्धशङ्कापि।

ननु कामोपाधिस्नेहवत्त्वेन तथोच्यत इति चेत्। न। तथा स्नेहे भगवतोऽपि विषयान्तरतुल्यत्वेन 'संत्यज्य सर्वविषया'निति कथनानुपपत्तेः। विषयार्थमेवागमनात्। न च भगवतो विषयत्वेऽपि तदतिरिक्तविषयाणां त्यागोऽनूद्यत इति वाच्यम्। 'तव पादमूलं प्राप्ता' इत्युक्तिविरोधात्। न हि कामिन्य एवं वदन्ति, किन्तु भक्ता एव।

किञ्च, अतितोकेन पूतनासुपयःपानानन्तरं रक्षाकरणे श्रीशुकेन हेतुरुक्त 'इति प्रणयबद्धाभिर्गोपीभि'रिति। न हि तादृशे कामोपाधिकः स संभवति। न वा तादृशीनामञ्जनादित्यागः संभवति, प्रत्युत तदादि सर्वं प्रसाध्यागमनम्, कुब्जावत्। तदनन्तरं यद्रमणम्, तत्तु 'रसो वै स' इति श्रुतेः स्वरूपस्य रसात्मकत्वाद्रसरीत्या स्वरूपानन्ददानमेव। 'सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थं तु राजसम्। तामसं मोहदैन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रय'मिति भगवद्वाक्यात् भगवत्सम्बन्धिसुखस्यापि गुणातीतत्वमेव ॥ १६ ॥

विट्ठलनाथजी की टीका का अनुवाद—

'यद्वेत्यादिना' गोपियों ने जारबुद्धि से भी गुणमय देह त्यागकर भगवान का सायुज्य प्राप्त किया, इस विषय में राजापरीक्षित १२ वें श्लोक में शंका करता है कि गोपियां भगवान को केवल श्रेष्ठ कान्त मानती थीं, ब्रह्म नहीं मानती थीं, फिर गोपियों के गुण प्रवाह-संसार का नाश कैसे सम्भव हो सकता है।

राजा परीक्षित की शंका का यथार्थ भाव यह है कि भगवान का ब्रह्मत्व से विज्ञान होना शास्त्रीय है, और वह विज्ञान शास्त्रीय सात्विक होना चाहिये, कारण कि 'सत्त्वात्संजायते ज्ञानम्' भगवान ने गीता में आज्ञा की है कि सत्त्व से ज्ञान उत्पन्न होता है, किन्तु गोपियां तो गुणातीत आनन्दमात्र करपादमुखोदरादि प्रकट अनन्तगुणपूर्ण भगवान के सौन्दर्य, माधुर्य, आदि गुणों में बुद्धि लगाने वाली हैं, अतः वस्तुतः निर्गुण हैं, अर्थात् जब गोपियों में गुण ही नहीं हैं, फिर गुण-प्रवाह-संसार का उपराम-नाश किस प्रकार सम्भव हो सकता है, कारण कि उपराम नाश अभाव रूप है, और अभाव को अपने प्रतियोगी भाव की अपेक्षा रहती है, यहां तो गोपियों में प्रतियोगी-गुणभाव का ही अभाव है, सारांश यह है कि गोपियां निर्गुण हैं, इसलिये गोपियों में जब गुण-प्रवाह उपस्थित ही नहीं है, फिर गुणप्रवाह का नाश सम्भव कैसे हो सकता है।

यहां मूल में 'हे मुने' इस सम्बोधन का तात्पर्य यह है कि शुद्ध सत्त्व का जिस समय आविर्भाव होता है, उस समय ज्ञानोदय होता है, यह बात आप को अनुभव सिद्ध होने से संवाद अर्थ में है, अर्थात् परस्पर बात करने में अविरोध अर्थ में है ॥ १२ ॥

अब १३ वें श्लोक में राजा परीक्षित की शंका का उत्तर शुकदेव जी देते हैं कि प्रथम ७ वें स्कन्ध की प्रथमाध्याय में 'गोप्यः कामात्' गोपियों को काम से भगवत्प्राप्ति हुई, इस वाक्य से प्रश्न का उत्तर दे चुके हैं, इसका यह अर्थ है कि जिस प्रकार शिशुपाल आदि की बुद्धि गुणातीत भगवान में ही स्थित थी, किन्तु इसमें द्वेष आदि कारण थे, इसलिये शिशुपाल आदि को नाम-सत्त्व कहा है। उसी प्रकार यद्यपि अन्तर्गृहगता गोपियों की बुद्धि निर्गुण भगवान में स्थित थी, तथापि इसमें जारत्व बुद्धि कारण है, इसलिये अन्तर्गृहगता गोपियां सगुण ही मालूम पड़ती हैं और यह भगवद् रस सर्वभाव प्रपत्ति से ही एक लभ्य है, जारत्व बुद्धि में सर्वभाव से प्रपत्ति नहीं है, कारण कि भगवान काम पूर्ण करते हैं, इस प्रकार के विचार से ही जार बुद्धि उत्पन्न होती है, इस नियम से जारत्व बुद्धि सगुण है, इसलिये सगुणत्व, सर्वभाव से प्रपत्ति में प्रतिबन्धक है. अतः जिस प्रकार शिशुपाल आदि को अपने-अपने अधिकारानुसार द्वेषयुक्त सगुण शरीर का नाश होने पर भगवत्पदप्राप्ति हुई, उसी प्रकार अन्तर्गृहगता गोपियों ने भी अपने अधिकारानुसार जारबुद्धि युक्त सगुण शरीर का नाश होने पर सर्वभाव प्रपत्ति द्वारा ही अपने पति कृष्ण भगवान का भजन किया है, अतः यहां कोई दूषण नहीं है।

यदि भगवान इस प्रकार नहीं करते तो 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते, जो लोग जिस प्रकार मेरी शरण आते हैं, उनको मैं उसी प्रकार से भजता हूं, यह गीता में कही मर्यादा भङ्ग हो जाती। उक्त सबका मन में विचार करके शुकदेव जी कहते हैं कि 'उक्तं पुरस्तादेतत्ते' इसका उत्तर तो मैंने तुमसे पहले ही कहा है। यदि कहो कि तो भी गोपियां प्रथम जारबुद्धि से भगवान की शरण में गई थीं, फिर सर्वभाव प्रपत्तिसाध्य फल इनको कैसे मिला। इसके उत्तर में शुकदेव जी कहते हैं कि 'द्विषन्नपि' शिशुपाल मोक्ष सुख की अपेक्षा–इच्छा नहीं करता था, किन्तु उलटा भगवान से मोक्षविरोधी द्वेष करता था, इस प्रकार के शिशुपाल के लिये ज्ञानियों को भी दुर्लभ भगवान ने मोक्ष प्रदान किया उसी प्रकार गोपियां यद्यपि जारबुद्धि से भगवान की शरण गईं तथापि सर्वभाव प्रपत्ति साध्य फल भगवान ने गोपियों को दिया है।

इस प्रकार कहने से यहाँ यह भी सुचित होता है कि जिस प्रकार द्वेष, और मुक्ति में तारतम्य है, उसी प्रकार जारत्वबुद्धि से किया भजन और भगवद्रस में तारतम्य है–अर्थात् अन्तर है।

यदि कहो कि गोकुल भगवान् की क्रीडा में उपयोगी है, इसलिये सर्व गोकुल ही निर्गुण है, और इसका भगवान् ने सर्व रीति से अङ्गीकार किया है, तो फिर अन्तर्गृहगता गोपियों को सगुण कैसे कहते हो। और यदि आगे अन्तर्गृहगता गोपियों को सर्व भाव प्रपत्ति से जो फल प्राप्त होता है, वह फल देने की इच्छा भगवान् की थी तो पहिले ही सर्व भाव गोपियों में उत्पन्न क्यों नहीं किया।

इस शंका का समाधान यह है कि यद्यपि सर्वगोकुल निर्गुण है, तथापि अन्तर्गृहगता गोपियों को सगुण क्यों कहा, इसका कारण कहते हैं कि जिन गोपियों का सम्बन्ध भगवान् के साथ में साक्षात्, अर्थात् देह त्याग किये बिना, इसी शरीर से हुआ है, उन सर्वरासमण्डल भूषणरूप गोपियों का शरीर भी गुणातीत ही है, इसी बात का ज्ञापन करने के लिये भगवान् ने ही कितने ही गोपियों के सगुण देह स्थापन कर दिये. और पूर्वोक्त निर्गुण गोपियों के भाव भी निर्गुण हैं, इस बात का भी ज्ञापन करने के लिये अन्तर्गृहगता गोपियों में सगुण भाव भी उत्पन्न कर दिये, तथा सगुण भाव को निवृत्त करनेवाले भी स्वयं भगवान् ही हैं, अन्य–ब्रह्मादि देवता नहीं। इस बात का भी ज्ञापन करने के लिये सगुण भाव की भगवान् ने निवृत्ति की है, तथा आगे होनेवाला भगवत्सम्बन्ध विरहदुःख, तथा भगवान् के संगम से सुख, यहां सुख दुःख दोनों कर्मजन्य नहीं हैं, इस बात का भी ज्ञापन करने के लिये गोपियों के शुभ, और अशुभ कर्मों का क्षय करके भगवान् ने अपनी प्राप्ति कराई है।

इस प्रकार उक्त सर्व हमारे स्वामी प्रभु ने ही किया है, इस प्रकार तात्पर्य है।

इनका पुष्टिमार्ग में अङ्गीकार है, इसलिये पुष्टिमार्गानुसार समाधान किया है, अतः मर्यादा मार्गानुसार की गई शंका को यहां अवकाश नहीं है। सर्व प्रसङ्ग निर्दोष है, इसीलिये शुकदेवजी ने भी 'जहुर्गुणमयं देहम्' सगुणदेह का त्याग ही कहा है। आगे गुणातीत देह प्राप्त करके भगवान् के साथ रमण किया है, यह अभिप्राय गुप्त है, अतः स्पष्ट नहीं कहा है। यदि उक्त अभिप्राय नहीं मानते हैं तो 'गुणमय' पद व्यर्थ हो जाता है।

यदि शंका करो कि रास में स्थित सर्व गोपियां निर्गुण ही हैं, इस बात का ज्ञापन करने के लिये भगवान् ने सगुणत्व स्थापन किया है, और वह सगुणत्व सर्वदा के लिये स्थापन नहीं किया है, उसकी निवृत्ति करके भगवान् ने रमण किया है, तो फिर इस प्रकार कहने में क्या युक्ति है। कारण कि लीला में देह का होना आवश्यक है, फिर सगुण देह से ही भगवान् ने लीला क्यों नहीं की, निर्गुण देह संपादन पर्यन्त दौड़ना किसलिये किया।

इस प्रकार की शंका से सगुणदेहनिवृत्तिरूप युक्ति जो प्रथम कही गई है वह दूर हो जाती है, इसलिये सगुणदेहनिवृत्ति में युक्ति को अर्थापत्ति द्वारा साधन करते हैं (नृणां) इत्यादि चौदहवें श्लोक में युक्ति साधन करते हैं कि लीला श्रवण करने पर भगवान् का अनुभव होता है, फिर भगवान् के अनुभव से भगवान् का स्वरूप यथार्थ भासित होता ही है, चाहे सगुणत्व स्थित हो तो भी भासता ही है, इस आशय से आगे कहते हैं कि लीला में तथा लीलास्थ भक्तों में, उसमें भी रासलीलास्थ भक्तों में साधारण बुद्धि करना, जिस प्रकार जगत् में अन्य स्त्रियां हैं, उसी प्रकार गोपियां भी साधारण स्त्रियां हैं, सगुण भक्त हैं, इस प्रकार की बुद्धि करे तो गोपियों में दोषारोपण करना ही है, भगवान ने गोपियों का देह निर्गुण संपादन नहीं किया है, रासलीला

तो सगुण गोपियों में भी होती है, इस प्रकार के ज्ञान से इस लीला का श्रवण करने पर सर्वरासस्थ गोपियों में उक्त ज्ञानसंबन्ध से स्वरूप और लीला में सगुणत्व हो जाये, तो फिर लीलाओं का श्रवण भी तादृश दोषजनक हो जाता है, तो फिर मुक्ति में प्रतिबन्ध हो जायेगा।

अर्थात् रासस्थित सर्व गोपियां तो निर्गुण हैं, और सगुणत्व दोषरूप है, इसलिये भगवत्स्वरूप और लीला में सगुण बुद्धि कर देता है, सगुणत्व बुद्धि होने पर रासलीला मुक्ति में प्रतिबन्धक ही हो जाती, किन्तु मुक्ति में हेतु नहीं होती। तो फिर भगवान् के अवतार का प्रयोजन में भी विरोध हो जाता, अतः अन्यथानुपपत्ति से भगवान् के अवतार में प्रथम कहे चार प्रयोजन सार्थक करने के लिये ही, भगवान् ने उक्त प्रकार किया है।

भगवान की लीला मोक्ष देने वाली है।

जिस प्रकार भगवान् की लीला और भक्तों को सगुण मानने से मोक्ष नहीं प्राप्त होती है। उसी प्रकार भगवान् की लीला और भक्तों को निर्गुण मानने से मोक्ष मिलती है। इस सिद्धान्त को समझाने के लिये प्रथम कहे चार हेतु प्रयोजन हैं॥ १४॥

यदि कहो कि भगवान् ने गोपियों का सगुणभाव निवृत्त करके रासलीला की है, तो फिर अबतक जो भगवान् ने गोपियों के साथ लीला की उसमें तो गोपियों में सगुणभाव ही था, अतः दोषरूप है, इसलिये मुक्ति में प्रतिबन्ध तो होगा ही।

इस शंका का उत्तर देते हुए पूर्व लीला का तात्पर्य कहते हैं कि (कामं क्रोधं) इत्यादि। भगवान् में काम क्रोध भय स्नेह ऐक्य और सुहृद जो कोई भी सदा करता रहता है, वह भगवन्मय निर्गुण हो जाता है।

यह तो साधारण नियम कहा है, केवल गोपियों के लिये ही नहीं कहा है, अतः श्लोक में क्रोध भय आदि को भी कहा है।

इस श्लोक में कथन किया सिद्धान्त सर्वसाधारण है, यदि सर्व-साधारण नहीं मानते, और केवल गोपियों के लिये ही मानते हैं तो गोपियों के प्रसङ्ग में यहां .क्रोध आदि का निरूपण निरवकाश होने से अयुक्त हो जाता है, इसलिये मानना पड़ेगा कि जो कोई भगवान् को सगुणभाव से भी भजन करता है, उसको भगवान् अपने अनुरूप मुक्ति फल देते हैं, अर्थात् 'यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्।' इस प्रह्लाद जी के वाक्यानुसार सगुणभाव से भजन करनेवालों में भक्ति का यद्यपि अभाव है, इसलिये उनको लौकिक फल देना ही उचित है, तथापि भगवान् अपने स्वरूप का विचार करके मुक्ति ही देते हैं।

लेखकार 'स्वानुरूप' का अर्थ कहते हैं कि पूर्व लीला करके सगुण भाव को शिथिल कर देते हैं, अर्थात् ध्यान में प्राप्त अपने संगम द्वारा सगुणभाव को सर्वथा निवृत्त करके वक्ष्यमाण रसानुभवयोग्य देहसम्पत्तिरूप तन्मयता को देते हैं। इसी बात का ज्ञापन करने के लिये भगवान् ने पूर्व लीला की है।

यदि यह बात नहीं मानते तो फिर मुख्य अधिकारियों को ही भगवत्प्राप्ति होती, मध्यम और हीन को नहीं होती, फिर उत्तमाधिकार में अयोग्य पुरुष इस बात को जानकर भगवत्प्राप्ति के लिये प्रयत्न भी नहीं करता, तो फिर मुक्ति का उच्छेद-नाश हो जायेगा, तथा फिर मुक्तिप्रतिपादक शास्त्र का प्रयोजन भी नहीं रहेगा, अर्थात् मुक्तिप्रतिपादक सर्वशास्त्र व्यर्थ हो जायेगा, कारण कि मुख्य अधिकारियों की तो भगवत्प्राप्ति में शास्त्र बिना स्वतः ही प्रवृत्ति हो जाती है, शास्त्र तो साधारण मनुष्यों के लिये है, मुख्य अधिकारियों के लिये नहीं है।

यदि सामान्य मनुष्यों को मोक्ष नहीं मिले तो शास्त्र का प्रयोजन कुछ रहता नहीं है, भगवान् का स्वरूप और लीलायें तो कभी भी सगुण नहीं होते हैं, कारण कि लीला में उपयोगी सगुणविषयों को भी भगवान् निर्गुण बना देते हैं, इसमें दृष्टान्त देते हैं कि जिस प्रकार दोष दूर करनेवाली औषधि रोगी मनुष्य के रोग से संयुक्त होती हुई भी स्वयं रोगरूप नहीं होती है, किन्तु रोगनिवर्तक होती है, उसी प्रकार भगवान् की लीला भी सगुणभक्त आदि से संबन्धित होने पर भी स्वयं दोषरूप नहीं होती है, किन्तु जिस प्रकार औषधि रोगनिवृत्त कर देती है, उसी तरह सगुणभाव को निवृत्त करके निर्गुण बना देती है।

यदि भगवान् की लीला दोष सम्बन्ध से दूषित हो जाये तो औषधि से जिस प्रकार रोगनिवृत्त नहीं हो, उसी प्रकार सगुण भी दूर नहीं हो, किन्तु औषधि रोगरूप दूषित होती नहीं है, रोग दूर करती है, उसी तरह भगवान् की लीला भी सगुण नहीं होती है। सगुण को दूर करती है।

यदि भगवान् की लीला लौकिक विषय सदृश हो तो भगवान् की एक ही वेणुवादन आदि लीला से सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार के भक्तों को निरोध नहीं हो सकता था।

जिस प्रकार क्रोध आदि से किया भगवान् का भजन हीन श्रेणी का है, उसी प्रकार कामोपाधिक—कामभाव से किया भगवान का भजन भी जघन्य-हीन श्रेणी का है, इस बात का ज्ञापन करने के लिये भी 'कामं क्रोधं' इस श्लोक में क्रोध भय आदि भावों का निरूपण किया है, यह जानना चाहिये।

तन्मयता का अर्थ निर्गुणता है। अर्थात् कामादिभाव से निरन्तर जो भगवद्भावना करते हैं, वे निर्गुण हो जाते हैं॥ १५॥

अब इस विषय में राजा परीक्षित विस्मय युक्त हो मन में कई प्रकार की शंकायें करने लग गया, उनका निरूपण आगे करते हैं।

(१) जिस प्रकार रूई अग्निसम्बन्ध सहन नहीं कर सकती, अग्नि का सम्बन्ध होने पर रूई का अस्तित्व नहीं रहता है, जल जाती है, उसी प्रकार सगुण भक्तों का निर्गुण भगवान् के साक्षात् अङ्गसङ्ग से अस्तित्व कैसे रहा। सच्चिदानन्द भगवान् अग्नि सदृश हैं, सगुणभक्त रूई सदृश हैं, अग्नि का रूई ने सहन कैसे किया, यह प्रथम विस्मय है।

(२) अलौकिक भगवान् का कामभावना वाली गोपियों के साथ लौकिक रीति से रमण करना, यह दूसरा विस्मय है।

(३) शिशुपाल आदि के लिये क्रोध का फल बिना भोगे ही भगवत्प्राप्ति हो जाना, यह तीसरा विस्मय है।

(४) भगवान् ने जो फल स्नेह करने वाले यादव आदि को दिया है, उनके बराबर वही फल क्रोधादिभाव करने वालों को दिया है, यह चौथा विस्मय है।

(५) गोपियों का भाव यशोदानन्दन में था, यशोदापुत्र उस समय वन में विराजते थे, फिर इनकी गोपियों के ध्यान में प्राप्ति कैसे हुई, यह पांचवां विस्मय है।

(६) गोपियों के द्वारा कुछ भी साधन किये बिना ही प्रभु इनके ध्यान में पधारे, और उसी समय गोपियों के निर्गुण देह भी हो गये, यह छठा विस्मय है।

(७) आगे भगवान् रासलीला करेंगे, रासलीला का अनुभव सर्वात्मभाव वाली गोपियों को ही होता है, अन्य को नहीं होता है, किन्तु सर्वात्मभावरहित इन गोपियों को भी रासलीला का अनुभव होना, यह सातवां विस्मय है।

इस प्रकार शुकदेव जी अनेक विस्मयाविष्ट राजा परीक्षित को जानकर इसके विस्मयों का निवारण क्रम से करते हैं और गोपियों की भगवत्प्राप्ति में हेतु भी कहते हैं 'न चैवं विस्मयः कार्यः' इत्यादि से, प्रथम विस्मय दूर करने के लिये कहते हैं कि (भवता) यहां पर भवता पद का यह भाव है कि हे राजन् जिस समय तुम अपनी माता उत्तरा के उदर में थे, उस समय तुम्हारे मारने के लिये अश्वत्थामा ने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया था, ब्रह्मास्त्र को कोई भी लौटा नहीं सकता है, वह मारे बिना नहीं रह सकता है, उस समय भगवान ने विचार किया कि अपने सम्बन्धी पांडवों का वंश नष्ट हो जायेगा, मेरी उपस्थिति में मेरे सम्बन्धियों का वंश नष्ट हो जाना उचित नहीं है, गर्भ में वंशवर्द्धक महाभक्त परीक्षित स्थित है, इसके द्वारा अनेक सत्कार्य होंगे, इन सब बातों का विचार करके भगवान् ने गर्भ में ब्रह्मास्त्र से आपकी रक्षा की थी। उस समय कुछ प्रयोजन था, इसलिये रक्षा की थी, किन्तु इस समय तुम्हारा कुछ प्रयोजन नहीं रहा है, अतः एक मुनिबालक के वाक्य से भी रक्षा नहीं कर रहे हैं, इस बात का तुम स्वयं अनुभव कर रहे हो।

इस समय रक्षा नहीं करने से भगवान् की शक्ति में कुछ न्यूनता नहीं है, कारण कि संपूर्ण शक्तियां भगवान् की इच्छा शक्ति के अधीन हैं।

भगवान् की इच्छाशक्ति अन्य सर्वशक्तियों से अधिक है, जिस समय मन्त्र आदि से अग्नि की दाहक शक्ति प्रतिबद्ध हो जाती है, उस समय अग्नि जलाता नहीं है, किन्तु इस प्रकार की दशा में कह नहीं सकते हैं कि अग्नि की दाहक शक्ति नष्ट हो गई है।

प्रकृतविषय में भी 'यासां साक्षात्' श्रीमदाचार्यों ने कहा है कि जिन गोपियों का भगवान् से साक्षात् सम्बन्ध है, उनके शरीर निर्गुण हैं, इसी बात का ज्ञापन करने के लिये भगवान् ने कुछ गोपियों में सगुण भाव स्थापन किया है। इस प्रकार यह प्रयोजन समझ कर तुमको विस्मय करना नहीं चाहिये। और कोई जिसको भगवान् का अनुभव नहीं हुआ हो वह यदि कदाचित् विस्मय करे तो भले ही करे, किन्तु तुमने तो अनुभव किया है।

अब दूसरे और तीसरे विस्मय का उत्तर शुकदेव जी देते हैं (भगवति) इस पद से।

यदि कोई दूसरा हो तो भी विस्मय हो सकता है, किन्तु षडैश्वर्यवान् भगवान् में विस्मय नहीं करना चाहिये। 'सर्वरसः' इस श्रुति के अनुसार ईश्वर सर्वरस भोक्ता होता है और कामरस तो कामभाव वाली स्त्रियों में ही विशेष अनुभूत होता है, कारण कि कामशास्त्र में इस प्रकार ही निरूपण किया है, इसलिये ऐश्वर्यवान् भगवान् में विस्मय नहीं करना चाहिये।

तृतीय का उत्तर—भगवान् का वीर्य अत्यन्त उग्र है, जो पदार्थ अन्य साधन साध्य नहीं हो सकता है, उस प्रकार के पदार्थ को सिद्ध करने वाला है, इसी से ही अन्य साधनों द्वारा निवृत्त नहीं होने वाले क्रोधादिदोषों को भी भगवान अपने वीर्यद्वारा निवृत्त करने में समर्थ हैं। इस प्रकार के वीर्य वाले भगवान् में विस्मय नहीं करना चाहिये ॥ ३ ॥

अब शुकदेव जी चतुर्थ विस्मय का उत्तर देते हैं कि भगवान् का यश असाधारण है, असाधारण यश महत् कर्म करने पर होता है।

यदि भगवान् केवल स्नेह करने वाले भक्तों को ही मुक्ति दें, और द्वेष करने वालों को नहीं दें, तो अन्यसाधारण की तरह यश होने से भगवान् का असाधारण यश नहीं होगा। और जो फल स्नेह करने वाले भक्तों को वही फल द्वेष करने वालों को देने से असाधारण कार्य कहा जाता है, असाधारण कार्य करने से यश भी असाधारण होता है, इस प्रकार का यश भगवान् में स्वाभाविक है और स्वाभाविक यश का ज्ञापक धर्म भी भगवान् में सहज है, अतः आप को विस्मय नहीं करना चाहिये।

श्री-लक्ष्मी भगवान् में इतना स्नेह करती हैं कि वक्षस्थल में स्थिति प्राप्त करके भी चरण-रज की चाहना करती है, और जब-जब भगवान् का अवतार होता है, तभी-तभी अवतार लेती हैं, इस प्रकार भगवान् सदैव श्रीयुक्त हैं, अतः स्नेहरस जानने वाले हैं, स्नेह करने वाले भक्तों को आप स्वरूपदान करते हैं, यह युक्त ही है।

ऐक्य हो जाना ज्ञानमार्ग में है, भगवान् ज्ञान वाले हैं, इसलिये ज्ञानियों की भगवान् में एकता का होना युक्त ही है।

सख्य होने पर सुहृद होता है, सौहृद परस्पर समान शील व्यसन वालों का ही होता है,

'नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना। श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा।
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्। मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥'

भगवान् दुर्वासा ऋषि से कहते हैं कि हे ब्रह्मन् जिन भक्तों की मैं परागति हूं, इस प्रकार के साधु भक्तों के बिना मैं आत्मा की तथा नित्य समीप में रहने वाली लक्ष्मी की आशा नहीं करता हूँ, साधु मेरे हृदय हैं, और मैं साधुओं का हृदय हूँ, साधु मुझसे अन्य किसी को नहीं जानते हैं, और मैं साधुओं से अन्य कभी किसी को नहीं जानता हूं, इत्यादि भगवान् के वाक्यों से सिद्ध होता है कि भगवान का भक्तों से अतिरिक्त अन्य किसी में राग नहीं है, भक्तों में ही राग है, इस प्रकार भगवान् में वैराग्य गुण है, भक्तों का भी भगवान् में ही राग है, अन्यत्र वैराग्य है, इसलिये सुहृद करने योग्य भक्तों में भगवान् सौहार्द देते हैं, भक्तों में भी पूर्व कहा वैराग्य गुण है, अतः भक्तों को भगवान सुहृद बनाते हैं, यह युक्त ही है।

(५) गोपियों का भाव यशोदानन्दन में है, इत्यादि से राजा ने पांचवां विस्मय किया है, उसको दूर करने के लिये शुकदेव जी कहते हैं कि (अजे) भगवान् अजन्मा हैं, यदि भगवान् का जीव की तरह कहीं भी जन्म हो, तो एक स्थान में बाहिर स्थित भगवान् फिर अन्तर्गृहगता गोपियों के भीतर हृदय में ध्यान द्वारा कैसे पधारे, इस प्रकार की शंका हो जाये, किन्तु भगवान् का जीव की तरह जन्म नहीं होता है, अतः उक्त शंका को अवकाश नहीं है, जिस प्रकार भगवान् अपनी इच्छा से माया-परदा दूर कर श्रीयशोदा जी के घर प्रकट हुए, उसी प्रकार वन में भी प्रकट हो गये, और अन्तर्गृहगता गोपियों के भीतर-हृदय में भी प्रकट हो गये, अतः (अजे) जन्मरहित भगवान् में विस्मय नहीं करना चाहिये।

(६) अब शुकदेव जी छठा विस्मय दूर करने को कहते हैं (योगेश्वरेश्वरे) योगी लोग योगबल से भोग भोगने के लिये अनेक शरीर एक समय में क्षण मात्र में रच लेते हैं, योगियों में योग आगन्तुक–आया हुआ धर्म है, स्वाभाविक नहीं है, भगवान् तो योगियों को इस प्रकार का धर्म सम्पादन करने वाले हैं, और योग का फल देने वाले हैं, इसलिये योगेश्वरों के भी ईश्वर हैं और स्वभाव से ही अनन्त शक्तिमान हैं, अतः गोपियों के अलौकिक देहसम्पादन किये तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है, यह भी विस्मय आप को नहीं करना चाहिये।

(७) अब आगे सातवें विस्मय का निवारण करते हैं (कृष्णे) कृष् धातु सत्तावाचक है, 'ण' आनन्द वाचक है, अर्थात् कृष्ण शब्द का अर्थ सदानन्दस्वरूप भगवान् निर्दोष पूर्णगुण युक्त है, अतः कृष्ण से अतिरिक्त वस्तुमात्र दोषयुक्त है।

कृष्ण से अतिरिक्त अन्य वस्तु में भी शान्ति मिलती है, इस प्रकार का जिसको ज्ञान है, वह भी दोषयुक्त ही है, यह निश्चय है।

रासलीला स्वरूपानन्दरूप है, अतः जिस भक्त में सर्वात्मभाव है उसको ही इस लीला का अनुभव होता है. जिसमें सर्वात्मभाव नहीं है उसमें रासलीला के अनुभव करने की योग्यता नहीं है, इसलिये यह विस्मय नहीं करना चाहिये। इस प्रकार अर्थ है।

गोपियों के स्नेह का वर्णन पहिले किया है, वह स्नेह साधन रूप था, परन्तु 'गोकुलं त्वह्नया पूतं निशि शयानम्' दिन काम में व्यतीत करना और रात्रि सोने में व्यतीत करना, इस वाक्य से यद्यपि सर्वगोकुल साधनरहित था, तथापि सर्वसाधनरहित होने पर भी प्रतिक्षण भगवान् के स्वरूप में लीन होता है, कारण कि आगे-आगे की लीलारस का अनुभव करने के लिये स्वरूप में लीन होता है। और भगवान् अपने स्वरूप में लय गोकुल को बारम्बार अपने स्वरूप से पृथक् करते हैं। तथा तत्तद् लीलाओं का अनुभव कराते हैं। इस प्रकार के अचिन्त्य अनन्त शक्तिमान भगवान् में कोई आश्चर्य नहीं है, इसी आशय से शुकदेव जी कहते हैं कि 'यत एतद्विमुच्यते' जिस भगवान् के हेतु से यह गोकुल मुक्त होता है, इस समय शुकदेव जी को लीला का अनुसंधान हो रहा है, अन्य अनुसंधान नहीं है, भावना से गोकुल में स्थित हैं. इसलिये 'एतत्' यह, इस प्रकार अंगुली से निर्देश किया है, तथा 'मुच्यते' यह वर्तमान काल का प्रयोग किया है। शुकदेव जी रासलीला का अनुभव कर रहे हैं, इसीलिये जो व्याख्यान किया है, वह सर्व निर्दोष है, अतः योग्य है।

आपने कहा है कि रास में प्रविष्ट सर्वगोपियां निर्गुण हैं, और अन्तर्गृहगता गोपियां सगुण हैं, इस प्रकार के वचन से विरह भी सुष्ठु वचन है, अर्थात् इनको विरह होना भी ठीक ही है, अन्तर्गृहगता गोपियां भी प्रथम कहीं गोपियों में से ही हैं. इसीलिये पहिले श्लोक में भगवान् के समीप जाने का उद्यम सभी गोपियों ने किया है, और पति आदि ने सभी गोपियों को ही रोका, किन्तु कुछ गोपियाँ भगवान् के समीप में गईं नहीं लौटीं, और कुछ नहीं गईं, इस प्रकार कहा है, स्त्रियां इस प्रकार से अपने घर नहीं जायें, यह बात तो लोक में अत्यन्त संभावित नहीं होती है, इसलिये कुछ स्त्रियां घर नहीं गईं, यह बात कैसे घट सकती है।

इस शंका का निवारण शुकदेव जी ने 'अन्तर्गृहगता गोप्यः इत्यादि ९।१०।११' तीनों श्लोकों में किया है।

यहाँ यह भाव है कि प्रथम सातवें श्लोक में पति आदि ने वचन से निषेध किया, उस समय गोपियों को पीछे लौटना योग्य था, किन्तु पीछे लौटी नहीं, और कितने ही अन्तर्गृहगता गोपियों को जिस समय पति आदि ने क्रिया-हस्त आदि से प्रतिबन्ध किया, उस समय पति आदि द्वारा प्रतिबध्य देह का त्याग कर गोपियां भगवान् में सङ्गत हो गईं, इसलिये पूर्वोक्त सर्व गोपियां अन्तर्गृहगता सदृश ही हैं, अतः आठवें श्लोक में गोपियाँ घर नहीं गईं, इस प्रकार जो कथन किया है, वह युक्त ही है।

नवम श्लोक में 'तद्भावनायुक्ताः' इस पद में 'तत्' शब्द कहा है, तत् शब्द पूर्व कहे को सूचन करता है, प्रथम आठवें श्लोक में पूर्वोक्त श्रुतिरूपा गोपियों के भाव का वर्णन किया है। नवम दशम और ग्यारवें श्लोक में अन्तर्गृहगता गोपियों का भाव कहा है, यह भाव प्रथम आठवे श्लोक में कहीं गोपियों में भी है. इस प्रकार जानना चाहिये। अतः नवम दशम और ग्यारह, तीन श्लोक में कहीं अन्तर्गृहगता गोपियों के सर्वधर्म आठवें श्लोक में कहीं गोपियों में भी सिद्ध होते हैं।

भगवान् ने अन्तर्गृहगता गोपियों को विदेह मुक्ति दी है, देहनिवृत्ति के बिना मुक्ति होती नहीं है, यह बात ग्यारवें श्लोक में शकदेव जी ने कहा है, आठवें श्लोक में कहीं श्रुतिरूपा गोपियों को देहनिवृत्तिपूर्वक मोक्ष नहीं मिला, इसलिये वहां पर यह प्रकार कहा नहीं है, इस प्रकार आठवें श्लोक में कहीं श्रुतिरूपा गोपियां और नवम दशम ग्यारवें श्लोक में कहीं गोपियां अन्तर्गृहगता सर्व एक ही प्रकार की है, श्रुतिरूपा उच्च श्रेणी की हैं अन्तर्गृहगता निम्न श्रेणी की हैं. यह बात नहीं है :

उक्त शंका का समाधान करते हैं कि, अरे शंका करने वाले अभिमानी तेरी दृढ मूर्खता, कारण कि तेरे पास विचाररूपी लोचन नहीं हैं, इसीलिये बहिर्मुखता, तथा असत्सङ्गरूप दो पर्वतों के बीच गड्ढे में गिरने से तेरा अन्तःकरण इतना दुष्ट हो गया है कि शुकदेव जी जैसे मुनि के कहने पर भी विचार नहीं करता है. गोपियां घर नहीं गईं, यह बात लोक में संभावित नहीं होती है, फिर कैसे सम्भव होती है, इस शंका का समाधान करने के लिये—दूर करने के लिये ही नव, दश ग्यारह इन तीन श्लोक में कथा का वर्णन है, तुमने जो इसका भाववर्णन किया है, इस कथा के अर्थ में तुमसे मैं यह पूछता हूं, कि यह कथा कल्पित है, अथवा पूर्व सिद्ध का ही यहां अनुवाद किया है, यदि अन्त्य पक्ष-पूर्व सिद्ध ही का अनुवाद किया, तुम्हारे सम्मत है तो उसमें तुमसे पूछता हूं कि सर्वगोपियों के प्रतिबन्ध करने में हेतु क्या है। आठवें श्लोक में कहीं अपनी प्रिय गोपियों में सगुणभाव प्रसिद्ध करने के लिये अन्तर्गृहगताओं को प्रतिबन्ध भगवान् ने स्वयं पति आदि के द्वारा किया है, यदि इस प्रकार कहते हो तो बड़े खेद की बात है कि इस प्रकार का विचार करने वाले तुम्हारे हृदय के सौ टुकड़ा क्यों नहीं हुए, यह हम नहीं जानते हैं, कारण कि जहां मर्यादा मार्गीय सेवा विषयक श्रद्धा को भी निर्गुणत्व है. वहां साक्षात् भगवान के अङ्ग-सङ्ग करने वाली आठवें श्लोक में कहीं गोपियों मे सगुणत्व कहते हो, अतः मुझे अत्यन्त खेद होता है।

'ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः' गोपियों का मन मुझमें है, इनकी इन्द्रियां मुझमें हैं, इनमें मेरे लिये देहोपयोगी समस्त वस्तुओं का त्याग किया है, इत्यादि वाक्य से भगवान् ने गोपियों की स्वयं प्रशंसा की है, और ('एताः परं तनुभृतः, नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनः') उद्धव जी ने कहा है, कि देहधारण सार्थक गोपियों के ही हैं, इसलिये गोपियों के चरणरज की प्रार्थनापूर्वक स्तुति उद्धव ने की है, इस प्रकार की गोपियों में सगुणभाव की गंध भी कैसे हो सकती है।

यदि कहो कि आठवें श्लोक में कहीं गोपियों का भगवान में कामोपाधिक स्नेह है इसलिये उनकी देहनिवृत्तिपूर्वक मुक्ति नहीं हुई।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यदि गोपियों का कामोपाधियुक्त स्नेह होता तो फिर भगवान् भी जगत् के अन्य विषय पदार्थों की तरह हो जायें, और-'संत्यज्य सर्वं विषयान्' सर्व विषयों का त्याग कर आपके चरण कमल में आई हैं, यह वाक्य गोपियों का घटित कैसे होगा। अतः गोपियों में कामोपाधिक स्नेह नहीं है, भगवद्रूप विषय के लिये ही गोपियां भगवान् के समीप में आई हैं।

यदि कहो कि भगवान् गोपियों के काम विषय हैं, इसलिये भगवान् से अतिरिक्त अन्य सर्वविषयों का त्याग 'संत्यज्य' इस श्लोक में कहा है।

इस शंका के उत्तर में यदि यह कहो कि 'तव पादमूलं प्राप्ताः' आप के चरण में प्राप्त हुई हैं, इस वाक्य से विरोध होता है, कारण कि कामिनी स्त्रियां, हम आपके चरण में प्राप्त हुई हैं, इस प्रकार नहीं कहती हैं। किन्तु भक्त स्त्रियां ही इस प्रकार कहती हैं।

भगवान् जिस समय अति छोटे बालक थे, उस समय पूतना का प्राणरूप पयःपान किया था, गोपियों ने भगवान् की रक्षा की थी, वहां उपसंहार में 'इति प्रणयबद्धाभिर्गोपीभिः' प्रणयबद्ध गोपियों ने भगवान् की रक्षा की, यह हेतु शुकदेवजी ने कहा है, अर्थात् गोपियों ने भगवान् का रक्षण भक्तिजन्य स्नेह से किया है, कामोपाधिक स्नेह से नहीं किया है। कारण कि अति छोटे बालक भगवान् में कामोपाधिक स्नेह का हो जाना संभव नहीं हो सकता है। और कामिनी स्त्रियों का अञ्जन आदि त्याग करके नायक के पास आना भी संभव नहीं हो सकता है, कारण कि कामिनी स्त्रियां जिस समय नायक के पास जाती हैं, उस समय विशेष शृङ्गार करके सुशोभित हो जाती हैं, कुब्जा की तरह गोपियां भगवान् के पास आईं, पश्चात् भगवान् ने रमण किया, वह तो 'रसो वै सः' इस श्रुत्यनुसार भगवान् का स्वरूप रसात्मक है 'इसलिये रसशास्त्र की रीति से स्वरूपानन्द का दान ही किया है। भगवान् ने जारबुद्धि से रमण नहीं किया है।

'सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थं तु राजसम्।
तामसं मोहदैन्योत्थं निर्गुणं मदुपाश्रयम् ॥— भागवत स्कंध ११

आत्मोत्पन्न जो सुख होता है, वह सात्त्विक है, और विषयोत्पन्न जो सुख होता है, वह तामस है, और मेरे आश्रय से जो सुख मिलता है वह निर्गुण है, इस भगवान् के वाक्यानुसार भगवत्सम्बन्धी सुख को भी निर्गुण-गुणातीतत्त्व ही है॥ १६ ॥

इस प्रकार स्वतन्त्र का भाषानुवाद पूरा हुआ।

(सुबो०) एवं प्रासङ्गिकं परिहृत्य प्रस्तुतमाह—'ता दृष्ट्वेति'।

इस प्रकार प्रसङ्ग से राजा परीक्षित की शंकाओं का परिहार करके अब श्री शुकदेव जी प्रस्तुत विषय–चालू विषय का निरूपण करते हैं।

ता दृष्ट्वान्तिकमायाता भगवान् व्रजयोषितः।
अवदद्वदतां श्रेष्ठो वाचः पेशैर्विमोहयन् ॥ १७ ॥

पदपदार्थ—(ताः) 'दुहन्त्य' इत्यादि से जिनका प्रथम वर्णन किया है, उन (व्रजयोषितः) व्रज की स्त्रियों को (अन्तिकम्) समीप में (आयाताः) आई हुइ (दृष्ट्वा) देखकर (वदतां) बोलने वालों के मध्य में (श्रेष्ठः) उत्तम (भगवान्) षडैश्वर्यवान् श्रीकृष्ण (वाचः) वचनों की (पेशैः) सुन्दरता से (विमोहयन्) मोह कराते हुए (अवदन्) बोले ॥ १७ ॥

भाषार्थ—व्रज स्त्रियों को अपने समीप में आई हुई देखकर वक्ताओं में श्रेष्ठ भगवान् सुन्दर शब्दयुक्त वचनों से गोपियों को मोह कराते हुए बोले ॥ १७ ॥

(सुबो०) यास्तु समाहूताः समागताः, ता न निवार्यन्ते, याः पुनः सगुणाः समागताः अन्यसम्बन्धिन्यः, ताः शब्दश्रवणात् समागता इति शब्देन निवारणीयाः। अन्यशेषतया भजनमयुक्तमिति। करिष्यमाणलीला तु सर्वभावप्रपत्तिसाध्या, अतो निवारणार्थं यत्नमाह। ता 'दुहन्त्य' इत्याद्याः अन्तिकमायाता दृष्ट्वा, स्वार्थमेवागता इति निश्चित्य, भगवान् सर्वज्ञः सर्वसमर्थोऽपि, ता अपि व्रजयोषितः अथावृताः (निरावरणाः) स्वकीयाश्च। अतः सर्वानुपपत्तिरहिता अपि दृष्ट्वा अवदत्। धर्मप्रबोधनार्थं (वस्तुतः सर्वात्मभावलक्षणो धर्मः) वक्ष्यमाणमुक्तवान्। ननु ताः पूर्वं निवार्यमाणाः समागताः, कथमेतद्वाक्येन निवृत्ता भविष्यन्ति, अतो व्यर्थो वाक्प्रयास इति चेत्, तत्राह 'वदतां श्रेष्ठ' इति। ये केचिद्वदन्ति, तेषां मध्ये श्रेष्ठः। अतो हृदयगाम्यस्य वचनं भवति। अतो यावद्वचनेन निवृत्ता भवन्ति, तावन्न कृतौ योजनीयाः। किञ्च, अलौकिकमप्यस्य निवर्तने सामर्थ्यमस्ति, तदाह-'वाचः पेशैर्विमोहयन्नि'ति। वाचः पेशाः वाक्क्सौन्दर्ययुक्ताः शब्दाः, तैर्विशेषेण मोहयन्। अथवा ता दृढीकर्तुमेव सम्यक् मोहनार्थं निषेधवाक्यानुक्तवान्, अन्यथा गच्छेयुरेव। अतः अर्थतो निवारयन् अपि पर्यवसानतो न निवारयति ॥ १७ ॥

जो गोपस्त्रियां, कुमारिकायें तथा अन्तर्गृहगतायें गुणमयशरीर त्याग कर निर्गुण शरीर से भगवान् के पास बुलाई हुई आईं हैं, वे सर्व भगवान् के पास प्राप्त हो गईं।

मुख्यता से तो कुमारिका ही बुलाई गई थी, जिनको कि वरदान दिया था, अन्तर्गृहगता यद्यपि भगवान ने नहीं बुलाई थी, तथापि नाद श्रवणकर इनने आने के लिये उद्यम किया था, किन्तु प्रतिबन्ध होने से कदाचित् नहीं आईं हों, इस शंका की निवृत्ति के लिये कहते हैं कि जो प्रथम कहीं वाणी से निषेध आदि वाली अन्तर्गृहगता, वे भी सर्व बुलाई थीं, इसमें युक्ति कहते हैं कि 'समागताः' सम्यक् प्रकार से आ गईं।

कुमारिकाओं के बुलाने की बात तो पहिले स्पष्ट ही कह चुके हैं, अन्तर्गृहगताओं को भगवान् ने बुलाया था कि नहीं यह संदेह था, वह यहां स्पष्ट कह दिया है कि अन्तर्गृहगता भी सम्यक् प्रकार से भगवान् के पास में आ गई हैं।

यदि भगवान अन्तर्गृहगता गोपियों को नहीं बुलाते तो कालद्वारा प्रतिबन्ध होने से भगवान् के पास आती ही नहीं।

अन्यपूर्वा—श्रुतिरूपा–गोपियों को तो काल ने प्रतिबन्ध नहीं किया, इसलिये भगवान् के समीप आने में कोई बाधा नहीं हुई है, और कुमारिकाओं के तो पति आदि ही नहीं है, जो प्रतिबन्ध करते, अतः जिन-जिन गोपियों को भगवान् ने बुलाया था, वे सर्व गोपियां भगवान के समीप में आ गई हैं।

अब भगवान ने विचार किया कि जो बुलाई हुई कुमारिका तथा अन्तर्गृहगता आई हैं, उनके प्रतिनिषेध वाक्य कहना ठीक नहीं है, कारण कि घर का देह से सम्बन्ध हैं, देह नष्ट होने पर जब अन्तर्गृहगताओं का घर ही नहीं रहा, तब लौटकर घर जाना कैसे संभव हो सकता है, इसलिये तुम घर जाओ, इस प्रकार कहना बन नहीं सकता है। और अन्तर्गृहगता गोपियों के साथ प्रतिबन्ध लीला तो दोष निवारण करने के लिये ही की है, दोष का कारण तृतीय स्कन्ध सुबोधिनी में कहा है कि कामयुक्त ब्रह्मा ने वाणीरूप गोपी को शाप दिया है, यह प्रसङ्ग विशेषरूप से इसकी भूमिका में कहा है, जिस प्रकार शुक्र ने भय से कंस आदि को शाप दिया था, इसलिये उसकी भगवान् में प्राप्ति भय से ही होगी उसी प्रकार गोपियों की काम से प्राप्ति हुई है, अतः कामदोषनिवृत्त करने के लिये भगवान् ने प्रतिबन्ध लीला की है।

पूर्वोक्त कुमारिका तथा अन्तर्गृहगता दोनों ही बुलाई हुई आई हैं, इसलिये इन दोनों से भगवान् ने घर जाने के लिये नहीं कहा है, नहीं तो बुलाना व्यर्थ हो जाता। किन्तु 'दुहन्त्य' इत्यादि श्लोक में कही गयी जो सगुण गोपियां आई हैं, उनसे निषेध वाक्य कहे हैं। ये गोपियां

जितने गुणों से भगवान् के साथ रमण करने की योग्यता होती है, उतने सर्वगुण संपन्न हैं, ये अन्य गोपों के साथ विवाहिता हैं, और रसशास्त्र प्रतिपादित विशेष रस के उपयोगी गुणवाली जो गोपियां भगवान् के पास आई हैं, उनको भी यद्यपि निषेध करना योग्य नहीं है, तथापि ये विशेष ठहर नहीं सकती हैं, तथा अपने आप नहीं आई हैं, किन्तु वेणुनादश्रवण करके भगवान् के पास आई हैं, इसलिये इनका उतना ही अंश निवारण करना योग्य है, इस बात को विचार कर भगवान् ने इनका शब्द से ही निवारण किया है, हृदय से नहीं किया है, कारण कि भक्तिमार्ग का यह सिद्धान्त है कि किसी उपाधि, अथवा प्रयोजन से भगवान् का भजन करना योग्य नहीं है।

भगवान् का गीत अनङ्ग वर्धक है, शब्द के श्रवण से भजन करने में तथा गीत के श्रवण से काम उत्पन्न होता है। यदि कामपूर्ति के लिये भजन होगा तो फिर काम के लिये भजन में कामशेषता हो जायेगी, कामशेषता भक्तिमार्ग में युक्त नही है।

भगवान् ने गोपियां बुलाई हैं, इसलिये भगवान् का समागम होता है, भगवान् में कामार्थ की शंका भी नहीं है, यदि ये गोपियां केवल वेणुनाद श्रवण करके आई होतीं, और भगवान् के लिये नहीं आई होतीं तो शब्द से भगवान् ने जिस समय घर जाने की आज्ञा दी उसी समय गोपियां लौटकर घर चली जातीं, किन्तु प्रसङ्ग से आगे ज्ञात होता है कि गोपियां भगवान् का शाब्दिक निवारण नहीं मानकर अपने घर नहीं गईं, इससे ज्ञात होता है कि इन गोपियों का आगमन शब्दोपाधि रहित था।

आगे भगवान् जिस रासलीला को करेंगे, वह केवल सर्वभावप्रपत्तिसाध्य है, अर्थात् जो सर्वात्मभावपूर्वक भगवान की शरण में जाता है, वही रासलीला में अधिकारी होता है, इस लिये सर्वभावप्रपत्ति में जितना अंश न्यून–कम था, उसको दूर कर सर्वात्मभाव की पूर्ति करने के लिये भगवान् ने सगुण गोपियों को लौटकर घर जाने के लिये वचन से प्रयत्न किया है। इसी बात को शुकदेवजी कहते हैं कि 'ताः दुहन्त्यः १०।२६।५' उक्त श्लोकों में कही गयी गोपियां जिस समय भगवान् के समीप आईं उस समय भगवान् ने देखकर जाना कि ये गोपियां अपने-अपने स्वार्थ के लिये आई हैं, इस प्रकार भगवान सर्वज्ञ सर्वसमर्थ भी निश्चय करके, इनको तो अपने पति आदि का भी भय नहीं है, और ये गोपियां भी व्रज में रहने वाली स्त्रियां हैं।

नगर की रहने वाली स्त्रियों का कदाचित् भीतर-बाहिर का भाव और हो सकता है, किन्तु व्रजस्त्रियां होने से इनमें कापट्य नहीं है, भीतर-बाहिर एक सा भाव है, और व्रज के सम्बन्ध से भीतर धर्म का आवरण नहीं है, इसलिये इनका सर्वांश से आगमन है, किसी भी अंश से हृदय का भाव अन्यत्र स्थापन करके नहीं आई हैं, इसलिये निरावरण है, और स्वकीय भगवदीय हैं।

इन गोपियों को घर लौटकर भेजने के लिये जितनी सामर्थ्य उपयुक्त होनी चाहिये थी, उतनी यहां पूर्ण भगवान् ने प्रकट की है, इसी बात का ज्ञापन करने के लिये 'भगवान' आदि प्रभु के विशेषण कहे हैं, इससे स्वामिनीभाव महाबलवान है, यह ध्वनित होता है, और भक्ति-मार्ग का उत्कर्ष ही सिद्ध होता है। कारण कि भाव भगवद्रूप है, अतः पर्यवसान में भक्तिमार्ग का उत्कर्ष ही सिद्ध होता है, इस प्रकार हृदय आचार्य चरणों का है।

इस प्रकार इन गोपियों को सर्वयुक्तियुक्त देखकर आप बोले, अर्थात् अन्य शेषता से भजन करना योग्य नहीं है, यह भक्तिमार्गीय धर्म का प्रबोध-ज्ञान करने के लिये वक्ष्यमाण घर जाने के लिये निवारक वाक्य गोपियों से कहने लगे।

यदि कहो कि गोपियों को तो प्रथम ही पति पुत्रादिकों ने रोकी थीं, किन्तु रुकी नहीं। और भगवान् के पास आ गईं हैं, तो फिर भगवान् के उपदेश से घर लौटकर कैसे जायेंगी, अतः भगवान् का वाणीद्वारा प्रयास करना व्यथ ही है ?

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि 'वदतां श्रेष्ठः' भगवान् बोलने वालों के मध्य में भी श्रेष्ठ हैं, इसलिये भगवान् के वाक्य हृदयगामी हैं।

जहाँ तक वचन से घर लौटकर चली जायें, वहां तक कृति-क्रिया नहीं करनी चाहिये, इसलिये भगवान् ने वचन से निषेध किया है।

भगवान् में गोपियों को घर लौटाने की अलौकिक सामर्थ्य भी है, इसको शुकदेव जी कहते है कि 'वाचः पेशैर्विमोहयन्' भगवान् सुन्दर वाणी वाले शब्दों से गोपियों को विशेष मोहित करते हुये बोले, विमोहन शब्द में विशेष मोहन कहा है, यदि विशेष मोह यहां नहीं कहते तो प्रथम मोहिताः' श्लो० आठ में कह आये हैं, फिर यहां कहने से पुनरुक्ति हो जाती। अतः पहिले से भी विशेष-अधिक मोह कराया है, इस प्रकार अर्थ है।

पहिले मोह भगवद्विषयक था, यहां पर मोह भगवांद्विषयक अधिक कहा है गृहादिविषयक मोह को विशेष नहीं कहा है। अतः स्थूणा-खनन न्याय से भगवद्विषयक मोह को दृढ करते हैं कि (अथवा) गोपियों को अधिक दृढ करने के लिये ही तथा रसपोषण करने के लिये एवं सम्यक् प्रकार से मोहन करने के लिये भगवान् ने निषेध वाक्य कहे हैं।

यदि कहो कि भगवद्विषयक मोह जब हो गया था, तब विशेष मोहन करना असम्भव है। अर्थात् सम्भव नहीं होता है ?

इसका उत्तर यह है कि यदि भगवान् गोपियों को विशेष मोह नहीं करते तो गोपियां घर लौट जातीं।

यदि कहो कि गोपियों में सर्वत्याग और सर्वात्मभाव आदि धर्म स्थित हैं इन धर्मों के परामर्श से स्वतः ही भगद्विषयक मोह इनमें दृढ है, तो फिर 'भगवान्' और 'वदतां श्रेष्ठः' ये दोनों विशेषण कहने का प्रयोजन दीखता नहीं है, इसलिये पूर्वोक्त विशेष मोह करना सिद्ध नहीं होता है ?

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि–आपका कहना ठीक है, यद्यपि आगे प्रभु जो वाक्य कहेंगे, उनका तात्पर्य गोपियों के घर लौटकर जाने में नहीं है, तथापि भगवान् का स्वरूप रस-रूप हैं, इसलिये भावात्मक है, अतः रसविरोधी वचन भगवान् के कहे युक्त नहीं हैं।

इसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान के उपदेश-वाक्यों का तात्पर्य ऊपर के अर्थ से घर लौटकर जाने में है, किन्तु भीतर तात्पर्य से रासस्थली में रहने में है, घर भेजने में नहीं ॥ १७ ॥

(सुबो०) भगवद्वाक्यान्याह 'स्वागतमि'त्यादि दशभिः। दशविधानां निवारकाणि।

अब सगुण निर्गुण भेद से दश प्रकार की गोपियों के प्रति 'स्वागतं' इत्यादि दश श्लोकों में भगवान् के निवारक वाक्य शुकदेव जी कहते हैं।

श्रीभगवानुवाच—

स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः।
व्रजस्यानामयं कच्चित् ब्रूतागमनकारणम् ॥ १८ ॥

पदपदार्थ—(हे महाभागाः) हे महाभागशालिनियो (वः) तुम्हारा सबका (स्वागतं) सुन्दर प्रकार से आगमन हुआ है, (वः) तुम्हारा, सबका (किं) क्या (प्रियं) प्रिय (करवाणि) मैं करूँ (व्रजस्य) व्रज का (अनामयं) आमय-रोग, उपद्रव नहीं, वह अनामय अर्थात् कुशल है (कश्चित्) प्रश्न में पूंछता हूं ! (आगमनकारणं) अपने आने के कारण को (ब्रूत) कहो ॥ १८ ॥

भावार्थ—श्री भगवान बोले कि हे महाभागशालिनियो आप भले पधारे, मैं तुम्हारा प्रिय क्या करूँ व्रज की तो कुशल है न ! अपने आने का कारण कहो ? ॥ १८ ॥

(सुबो०) तमोरजःसत्त्वभेदाः स्वान्तपर्यवसानतः ।
निरूप्यन्ते स्त्रियस्तासु वाक्यान्यपि यथायथम् ॥ १ ॥

प्रथमतस्तामससात्त्विक्यो निवार्यन्ते, ततस्तामसराजस्यः, ततस्तामसतामस्यः, एवमग्रेऽपि विभाज्याः । प्रथमं समागतानां लौकिकन्यायेनाह 'स्वागतमि'ति । कुशलप्रश्नोऽयम् । वो युष्माकमागमनं स्वागतं किमिति । स्तुतिमाह 'महाभागा' इति । भवतीनां महद्भाग्यम्, अतः स्वागमनमेव, तथापि पृच्छ्यत इति लोकोक्तिः । वस्तुतस्तु निष्प्रत्यूहं भगवत्सामीप्यमागता इति । समागतानामुपचारमाह 'प्रियं किं करवाणि व' इति किञ्चित्प्रार्थयितुमागता इति लक्ष्यन्ते, तथा सति तद्वक्तव्यम् । अर्थात् एतासां नाहं स्वभावतः प्रियः, किन्तु कामतः प्रिय इति ज्ञापितम् । तत्प्रयोजनं त्रिविधं भवति । इष्टरूपमनिष्टनिवृत्तरूपं देशकालव्यवहितं कामितं च । तत्रापि त्रैविध्यमस्तीति वाक्यत्रयं वा । यद्भवत्यो धावन्त्यः समागताः, तत्र किं व्रजे कश्चन उपद्रवो जातः, यद्ज्ञापयितुं तेषां समागमनम्, पूर्वपूर्वानङ्गीकारे उत्तरोत्तरवाक्यम् । यदि प्रियमपि न किञ्चित्कर्तव्यम्, व्रजे च न काप्यनुपपत्तिः, तदा आगमनकारणं ब्रूत ॥१८॥

गोपियों के भावानुसार सगुण-निर्गुण भेद से दश प्रकार यहां कहे हैं, वास्तव में तो सर्व गोपियां निर्गुण हैं, किन्तु भगवान् की लीलारूप से प्रसक्त नहीं होने से सगुणभावरहित भी नहीं कह सकते हैं, अर्थात् सगुणभाववाली नहीं है यह भी नहीं कह सकते हैं, सगुण भाव वाली भी हैं । तो फिर भगवान् के निषेध करने का उपयोग कहा होगा ।

इसका समाधान यह है कि जिस प्रकार दही-मन्थन से प्रथम क्षुब्धता होती है, पश्चात् नवनीत निकलता है, उसी प्रकार प्रथम क्षोभ उत्पन्न करने वाले वाक्यों से जिस समय गोपियों का मन क्षोभयुक्त हो गया, उस समय इनके हृदय का भाव नवनीत की तरह प्रकट हो गया, इसलिये हृदय का भाव प्रकट करने के लिये भगवान् के निवारक वाक्यों का उपयोग है ।

तथा प्रभु की सेवा पूर्ण करने के लिये, और उत्कट-तीव्र भाव उद्दीपन करने के लिये रसपोषण आदि में निषेध-वाक्यों का उपयोग है ।

गोपियों में नायिकाभेद से भावभेद जानना चाहिये, ये भावभेद कहीं एक रूप हैं, कहीं कदाचित् मिले हुए हैं, और कहीं कदाचित् पूर्वभाव, उत्तरभाव द्वारा उपमर्दित हैं, और कोई भाव कहीं बहुत काल तक स्थिर हैं, कोई थोड़े काल तक हैं, कोई शीघ्र होने वाले हैं, इस प्रकार

का रूप सत्त्वादि भावों का है, इसका दृष्टान्त से बोध कराने के लिये उतने ही श्लोकों से गोपियों के प्रति भगवान् निवारक वाक्य कहते है, इसी आशय से कारिका में श्रीमहाप्रभु जी कहते हैं कि 'तमोरजःसत्त्वभेदाः' ।

भावानुसार स्त्रियों के तम, रज और सत्त्वभेद निरूपण कहते हैं, वाक्य भी स्त्रियों के भावानुसार ही हैं ।

यहां पर उपचार, सारूप्यनिबन्धना गौणीवृत्ति से है, जैसे भगवान् 'अप्राणो ह्यमनाः' इस श्रुति के अनुसार प्राणादिरहित भी 'आनीतवानं स्वधया तदेकं' 'प्राणन्नेव प्राणो भवति' 'वदन्वागिति' प्राणवाले बोलने वाले श्रुति में कहे गये हैं, उसी प्रकार 'रसो वै सः' इस श्रुति में रस रूप कहे हैं, और मानसीन–मन में रहने वाले भावों का उक्त प्रकार से विभाग करके वहां-वहां अपना रूप अपने दासों में प्रकट करते हैं, यह भाव है ।

उक्त प्रकार से यद्यपि श्रौत प्रक्रिया से सर्व सिद्ध है, तथापि श्रीमद्भागवत पुराण की ही प्रक्रिया श्रेष्ठ हैं, इसी आशय से कहते हैं कि वास्तव में तो सत्त्वादिगुण लीलामध्यपाती हैं, अतः प्राकृत सत्त्वादिगुणों से भिन्न अप्राकृत सत्त्वादिगुण गोपियों में है, कारण कि जन्मप्रकरण में 'तमद्भुतं' इस श्लोक में 'आत्मा कार्यं भूतानि' इस कारिका में भगवदात्मकगुण कहे हैं, वे ही गुणभेद स्मृति से प्राप्त नायिका का सदंश, अथवा अभेदश्रुतिप्रतिपन्न सदंश, चिदंश और आनन्दांश गोपियों में हैं ।

भगवान् प्रथम तामस सात्त्विकी गोपियों से निवारक वाक्य कहते हैं, फिर अनन्तर तामसी राजसी, फिर तामस तामसी गोपियों से निवारण वाक्य कहते हैं, इस प्रकार आगे के श्लोकों में भी गोपियों का भावभेद करना चाहिये ।

भगवान् प्रथम आये हुए गोपियों के प्रति लौकिकन्याय से कहते हैं कि (स्वागतं) भले पधारे । इस प्रकार कुशल-प्रश्न पूछते हैं, तुम सबका आगभन तो शोभन प्रकार से हुआ है, किन्तु आप सबके यहां आनेका प्रयोजन कहा है, उसको कहो ।

भगवान् गोपियों की प्रशंसा करते हैं कि 'हे महाभागा' तुम सबका बड़ा भाग है, इसलिये आगमन तो अच्छा ही है, तो भी लोक में इस प्रकार की रीति है, कि जो पास में आता है उससे कुशल-प्रश्न पूछा जाता है, अतः मैंने भी पूछा है, वास्तव में तो गोपियों का सत्कार करते भगवान कहते हैं कि (प्रियं किं करवाणि वः) मैं तुम्हारा प्रिय क्या करूं । मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि आप सब कुछ प्रार्थना करने आई हों, यदि कुछ प्रार्थना करने हीं आई हों तो अपना इष्ट कार्य कहना चाहिये ।

इसका आशय यह है कि गोपियों को मैं स्वभाव से प्रिय नहीं हूं, किन्तु किसी काम, प्रयोजन के लिये प्रिय हूं, यह बात भगवान् ने गोपियों का सत्कार करके सूचित की है, प्रियकार्य अनेक प्रकार के होते हैं, उनके मध्य में क्या करूं इस प्रकार प्रश्न भगवान् करते हैं ।

अब प्रियकार्य के अनेक प्रकार पूछते हैं—

प्रयोजन तीन प्रकार का होता है, (१) इष्टप्राप्तिरूप, (२) अनिष्टनिवृत्तिरूप तथा (३) देशकाल से व्यवहित, कामित, कामित में इष्ट से देशादिव्यवहित होना ही विशेष है ।

इस श्लोक में 'स्वागतं वः' 'करवाणि वः' इस प्रकार दो बार 'वः' आया है, एक ही से अर्थ चरितार्थ हो जाता, फिर दो बार कहने का आशय यह है कि दूसरा 'वः' भिन्न विषय का बोध करता है, इसी आशय से पक्षान्तर कहते हैं कि 'तत्रापि' ।

उसमें भी त्रैविध्य है, अर्थात् इस श्लोक में प्रथम तामस सात्त्विकी गोपियां कहीं हैं, उनमें भी तीन प्रकार का भेद इस प्रकार है (१) तम थोड़ा सत्त्व अधिक (२) सत्त्व थोड़ा तम अधिक (३) तम और सत्त्व बराबर है।

इस प्रकार तीन प्रयोजन अथवा स्वामिनियों में सत्त्वादि तीन भेद के कारण इस श्लोक के तीन चरणों में एक एक भाव बोध करनेवाले तीन वाक्य हैं।

भगवान ने कहा कि आप सब दौड़ती हुई आई हो, इससे मालूम होता है कि क्या ब्रज में आप सबके पिता आदि को किसी प्रकार का उपद्रव तो नहीं हो गया, जिसके कहने के लिये तुम सब मेरे पास आई हो, इस प्रकार समीप में आई व्रजसुन्दरियों से भगवान ने कहा है।

यदि व्रज में उपद्रव होता तो सूचित करने के लिये तुम्हारे पिता आदि पुरुषों का भी आगमन होता, किन्तु पुरुष नहीं आये, और आप सब आई हैं, इससे प्रतीत होता है कि व्रज में कोई महान् उपद्रव हो गया है। उस उपद्रव को कहना चाहिये, यह भाव है।

यहां प्रथम प्रथम वाक्यों का स्वीकार नहीं करने से उत्तरोत्तर वाक्यों का विकल्प भगवान ने किया है।

यदि तुम्हारा तुछ प्रिय भी मुझको नहीं करना है, और व्रज में भी किसी प्रकार का उपद्रव नहीं है, तो फिर आप अपने आने का कारण कहिये ॥ १८ ॥

(सुबो०) तत्राप्यनुत्तरे स्वयमेव पक्षान्तरं कल्पयति। यथा भवन्तः समागताः, तथा वयमपीत्याशङ्क्याह—'रजनी'ति।

इस प्रकार प्रथम तामस सात्त्विकी गोपियों से प्रथम श्लोक में कहकर भगवान् ने अपने पास आने का कारण पूछा, किन्तु गोपियों ने जब कुछ उत्तर नहीं दिया तब भगवान् स्वयं ही अन्य पक्ष कल्पना करके गोपियों की तरफ से कहते हैं कि यदि आप कहो कि जिस प्रकार आप वन में पधारे उसी प्रकार हम सब भी आये हैं। तब इसका उत्तर भगवान् आगे श्लोक में कहते हैं—

रजन्येषा घोररूपा घोरसत्त्वनिषेविता।
प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः॥ १९ ॥

पद्पदार्थ—(एषा) यह (रजनी) रात्रि (घोररूपा) भयजनक (घोरसत्त्व-निषेविता) भयानक जीवों से सेवित है, अतः (हे मध्यमाः) हे युवावस्थावालियो (इह) वन में (स्त्रीभिः) स्त्रियों करके (न) नहीं (स्थेयं) ठहरना चाहिये (व्रजं) व्रज को (प्रतियात) लौट कर चली जाओ ॥ १९ ॥

भाषार्थ—हे मध्यमाओ यह रात्रि भयानक है, और घोर भयानक जीवों से सेवित है, अर्थात् भयानक जीव इस रात्रि में भ्रमण कर रहे हैं, इसलिये स्त्रियों को यहां ठहरना नहीं चाहिये, आप सब व्रज में लौटकर पधारो ॥ १९ ॥

(सुबो०) एषा रजनी, न तु दिनम्। दिवस एव ह्यरण्ये कार्यार्थं गम्यते, अयं तु चन्द्रः, न तु सूर्य इति भावः। नन्वस्तु रजनी, तथापि प्रकाशस्य विद्यमानत्वात् आगन्तव्यमेवेति चेत्, तत्राह—घोररूपेति। प्रकाशयुक्ताप्येषा वस्तुतो घोररूपा भयजनिका। प्रकाशयुक्तायामपि रात्रौ गच्छन् पुरुषो बिभेतीति।

किञ्च घोरसत्त्वनिषेविता। घोराण्येव सत्त्वानि रात्रिं निषेवन्ते, न त्वघोराणि। अतो रात्रौ अघोरो निर्गतो घोरैरुपहन्यते। अतः स्वभावधर्मसंसर्गिणां स्वरूपं ज्ञात्वा व्रजं प्रतियात। नन्वेवं सति तवैव स्थाने स्थास्यामः, परिचितो भवानिति चेत्, तत्राह—नेह स्थेयं स्त्रीभिरिति। वयं हि पुरुषाः, रात्रिश्चेयम्। अतोऽत्र स्त्रीभिर्न स्थातव्यम्। तथा सत्युभयोरपि विक्रिया स्यात्। किञ्च, भवत्यो यदि वृद्धा बाला वा भवेयुः, तदा स्थीयेतापि। भवत्यस्तु सुमध्यमाः रसात्मिकाः। अतो देहाध्यासे विद्यमाने सर्वथैव गन्तव्यम्। स्थितिपक्षे नञ्प्रश्लेषो घोरपदयोर्ज्ञेयः, न प्रतियातेति च ॥ १९ ॥

अब तामस राजसी गोपियों से भगवान् कहते हैं कि, यह रात्रि है, दिन नहीं है।

यहां आशय यह है कि ये रात्रियां अलौकिकी हैं, इसलिये इन रात्रियों का दिन में भीं
सत्त्व है, इसलिये हेमन्त ऋतु में प्रातःकाल 'मयेमा रंस्यथ क्षपाः' इन रात्रियों का दर्शन कराया
था, किन्तु वह साधन प्रकरण था, इसलिये भगवान् ने दिन में दर्शन कराया था, अतः रमण नहीं
किया, कारण कि लौकिक रात्रियों में अलौकिक रात्रियों का आरोप होने पर रमण होता है।

अतः यहां लौकिक रात्रियों में अलौकिक रात्रियों का सत्त्व होने पर रमण होगा, इसलिये
आप सबको यहां ही रहना चाहिये। घर नहीं जाना चाहिये, यह भगवान् का आशय स्थिति पक्ष
में है, वास्तव में भगवान् ने यहां स्थितिपक्ष का ही पोषण किया है। इसलिये भगवान् ने कहा
है कि गोपियों यह रजनी हैं, दिन नहीं है, अर्थात् यहां इस अधिकरणरूप लौकिकीरात्रि में
अलौकिकीरात्रि का आरोप है। इसी से 'घोरसत्त्वनिषेविता' यह विशेषण दिया है।

वस्त्रहरण प्रसङ्ग में तो अधिकरणभूत दिन था, इसलिये अलौकिक रात्रि के विद्य-
मान होने पर भी नहीं हुआ, किन्तु इस समय तो रात्रि में ही अलौकिक रात्रियां विद्यमान हैं,
अतः रमण होगा, यह भगवान् के कहने का आशय है।

यदि गोपियां कहें कि किसी कार्य के लिये हम सब वन में आई हैं।

तो इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि दिन में ही लोग वन में कार्य करने के लिये जाते
हैं, रात्रि में नही जाते हैं।

यदि कहो कि रात्रि तो प्रत्यक्ष दीख रही है, फिर भत्रवान् ने 'यह रात्रि' है क्यों कहा।

इसमें हेतु बतलाते हैं कि 'अयं तु चन्द्रः' 'न तु सूर्यः भगवान् कहते हैं कि आप सब को ताप
हुआ होगा जिससे तुम सब सूर्य जानकर चली आई हो, किन्तु यह देखो चन्द्र है सूर्य नहीं है।

इस प्रकार भगवान् के कहने से गोपियों को जो ताप हो रहा है, उसका ज्ञान भगवान् को
हैं, इस प्रकार सूचित किया है। अर्थात् तुम में मत्सम्बन्धी आर्ति द्वारा ताप हैं वह सूर्य की तरह
प्रतीत हो रहा है, उसकी मुझे खबर है। अतः भगवान् ने चन्द्रमा कह कर तापनिवृत्ति करने का
भी गूढ़ रीति से गोपियों को बोध कराया है।

यदि गोपियां कहें कि रात्रि भले ही हो, प्रकाश तो चन्द्र का विद्यमान है, फिर यहां रहने
में कोई प्रतिबन्ध नही है।

तब इसका उत्तर भगवान् कहते हैं कि 'घोररूपा' यह रात्रि प्रकाशयुक्त होने पर भी
वास्तव में घोररूपा है, अर्थात् भय उत्पन्न करने वाली है, कारण कि प्रकाश युक्त भी रात्रि में जाता
हुआ पुरुष वन में डरता है। इस रात्रि में घोर जीव रहते हैं, सात्त्विक जीव नहीं रहते हैं। इसी

लिये भयंकर रात्रि में यदि अघोर-सात्त्विक जीव बाहर निकलते हैं तो घोर जीव सात्त्विक जीवों को मार डालते हैं। इसलिये स्वभाव से भय उत्पन्न करना रात्रि का धर्म है, इसमें रहनेवाले घोर प्राणी हैं, अतः उक्त तीनों का स्वरूप विचार करके आप सब लौट कर व्रज में पधारो।

यदि कहो कि हमको इस प्रकार की रात्रि मालूम नहीं थी, तो यहां नहीं आती। अब यहां आ गई हैं और आप हमारे परिचित-पहचान के हो, इसलिये आपके स्थान में ही निवास कर लेंगे। तब इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि 'नेह स्थेयं स्त्रीभिः' मैं पुरुष हूं और रात्रि का समय है, इसलिये स्त्रियों को यहां नहीं रहना चाहिये, कारण कि एकान्त में स्त्री और पुरुष के रहने पर मन में विकार उत्पन्न हो जाता है। और आप सब यदि वृद्ध होते अथवा बालक होते तो कदाचित् हमारे स्थान में रह भी जाते, किन्तु आप सब तो 'सुमध्यामाः' सुमध्यमा-रसात्मिका हो इसलिये जहां तक देहाध्यास विद्यमान है, वहां तक आप सबको सर्वथा ही व्रज लौटकर जाना चाहिये ॥ १९ ॥

यहां तक अर्थ व्रज लौटकर जाने कहा, अब भगवान् का मुख्य आशय तो गोपियों को बन में ही रखने का है, इसलिये उक्त श्लोक का अर्थ स्थिति पक्ष में संक्षेप से कहते हैं, 'एषा रजनी' यह रात्रि है, इसलिये रमण के उपयोगी है, 'न तु दिनम्' दिन नहीं है, दिन होता तो रमणोपयोगी नहीं होता, और यह रात्रि 'अघोररूपा' भयजनक नहीं है, चन्द्रमा का सुन्दर प्रकाश हो रहा है, तथा 'अघोरसत्त्वनिषेविता' इस प्रकार के जीव इस रात्रि में नहीं हैं कि किसी को भय उत्पन्न करे और मार डालें, किन्तु परंस्पर भी वैररहित सात्त्विकी हैं।

अतः 'व्रजं प्रति न प्रतियात' व्रज को मत जाओ। 'हे सुमध्यमाः' आप सब यदि बूढ़ी अथवा बालक होती तो लौटकर व्रज भले ही चली जाती किन्तु तुम तो सभी सुमध्यमा-युवती रसात्मिका हो, अतः इस प्रकार की 'स्त्रीभिः' स्त्रियों करके 'इह' यहां हमारे स्थान पर 'स्थेयं' रहना चाहिये। इस प्रकार अर्थ स्थितिपक्ष में जानना चाहिये। इसी प्रकार अन्य आगे के श्लोकों में भी दो पक्ष है, इस प्रकार तामसराजसी गोपियों के प्रति भगवान् की उक्ति है ॥ १९ ॥

(सुबो०) अथ वयमभिसारिका एव त्वामुद्दिश्य समागताः, किमिति प्रेष्यन्त इत्याशङ्क्याह—'मातर' इति।

यदि गोपियां कहें कि हम अभिसारिका ही हैं, आपके लिये ही यहा आई हैं, अतः व्रज में जाने के लिये हमसे क्यों कहते हो। इसके उत्तर भगवान् कहते हैं —

मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः।
विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तो मा कृढ्वं बन्धुसाध्वसम् ॥२०॥

पदपदार्थ—(वः) तुम्हारे सबके (मातरः) माताएं (पितरः) पिताएं (पुत्राः) लड़काएं (भ्रातरः) भ्राताएं (च) और (पतयः) पतिएं (अपश्यंतः) नहीं देखते (हि) निश्चय गोकुल से निकलकर (विचिन्वन्ति) खोज कर रहे हैं। (बन्धुसाध्वसम्) बन्धुओं को भय (मा) मत (कृढ्वं) करो ॥ २० ॥

भाषार्थ—तुम्हारे माता पिता पुत्र भाई और पति तुम को घर में नहीं देखते खोजकर रहे हैं, इसलिये बन्धुओं को भय-त्रास मत करो लौट कर चली जाओ ॥ २० ॥

(सुबो०) भवतीनां मातरो नियामिकाः, तास्तु नागताः, अतो भवतीनामन्वेषणमपि करिष्यन्ति। अतस्तासां साध्वसं भयं मा कृढ्वम्, मा कुरुत। न च वक्तव्यं ता अपि तथा स्त्रीत्वाद्वा नागमिष्यन्तीति, तत्राह-'पितर' इति। तेषां कुले कलङ्कशङ्कया ते समागमिष्यन्त्येव। तर्हि तैः सह गन्तव्यमिति चेत्, तत्राह विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्त इति। गोकुलान्निर्गतानां कृष्णस्थानागमने मध्ये बहवो मार्गाः स्फुटिताः सन्ति, तत्र भगवन्माया तिष्ठति, यथा न कोऽपि भगवत्समीपं गच्छति, अतो मार्गान्तरेणैव गताः अपश्यन्तः सन्तः विचिन्वन्त्येव। अनेन स्थितौ शङ्काभावोप्युक्तः। बन्धुभ्यः साध्वसमिति च। तस्मात् सर्वा नागता इति नागन्तव्यम्। कुले च कलङ्को भविष्यतीति च। न च तेऽपि स्त्रीस्वभावं जानन्तीति नागमिष्यन्तीति चेत्, भगवदर्थं वा समागता इति, तत्राह पुत्रा इति। पुत्राणां सर्वथा रक्षकत्वं महती लज्जेति तेषु दयया भयाभावार्थं गन्तव्यम्। ननु ते बालका इति चेत्, तत्राह भ्रातर इति। ते हि समर्था अन्वेषणे लज्जावन्तश्च, अतो लज्जया अदृष्ट्वा कदाचित् शरीरमपि त्यजेयुः। अतो भ्रातृस्नेहाद् गन्तव्यम्। ननु ते अपकीर्तिभयादन्वेषणे न गमिष्यन्ति, तरुणास्ते, तरुण्यो वयमिति चेत्, तत्राह वः पतय इति। तेषां भोगापेक्षाप्यस्ति, तेषामेव चायं रसः, अतः परस्वं नान्यस्मै देयम्। भोगस्य ततोऽपि सिद्धिः। सर्वं एवापश्यन्तः गृहे अदृष्ट्वा अवश्यं विचिन्वन्ति। ततो बहुकालमदृष्ट्वा नाशशङ्कया च भयं प्राप्स्यन्ति। न च वक्तव्यं किमस्माकं तैः, तत्राह बन्धुसाध्वसमिति। ते हि बान्धवाः, तैः सहैव स्थातव्यम्। अतो बलवद्बाधकस्य विद्यमानत्वात् व्याघुट्य गन्तव्यमिति ॥ २० ॥

गोपियों से भगवान् कहते हैं कि तुम्हारी माताएं नियामक हैं, अर्थात् तुम्हारी माताएं तुम्हारी देख-भाल करनेवाली हैं, वे यहां तुम्हारे साथ नहीं आईं, इसलिये तुमको नहीं देखकर खोज करने भी जहां-तहां जायेंगो। अतः उनको भय मत करो। घर लौटकर चली जाओ।

यदि गोपियां कहें कि हमारी माताएँ भी जिस प्रकार हम सब मुरली-नाद से मोहित होकर आपके पास आई हैं, उसी प्रकार मोहित वे भी हो गई हैं, और कदाचित् खोज करते-करते यहां पर आ जायेंगी तो भी कुछ बाधा नहीं है, अथवा हमारी माताएं भी हमारी तरह स्त्रियां हैं, अतः रात्रि के समय वन में नहीं आ सकेंगी, इसलिये कोई प्रतिबन्ध नही करेंगी।

तब इसका उत्तर देते भगवान् कहते हैं कि (पितरः) माताएं प्रतिबन्ध नहीं करेंगी तो तुम्हारे पिता तो प्रतिबन्ध करेंगे ही, कारण कि कुल में कलङ्क लग जायेगा, इस शंका से पिता तो खोज करने अवश्य ही आयेंगे।

इसका उत्तर देते गोपियां कहती हैं कि यदि पिता यहां आयेंगे तो फिर हम सब पिताओं के साथ व्रज चली जायेंगी।

तब इसका उत्तर देते भगवान् कहते हैं कि (विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तः) तुमको देखे विना तुम्हारे पिता खोज ही करेंगे, कारण कि गोकुल से वृन्दावन जाने के लिये बीच में बहुत से मार्ग फूटे हैं, और वृन्दावन के मार्ग में भगवान् की योगमाया बैठी हुई है, इसलिये कोई भी प्राणी भगवान् के पास नहीं जा सकता है, अतः तुम्हारे पिता अन्य मार्ग से जायेंगे, और तुमको न देखकर खोजते ही फिरेंगे। उनका तुम्हारा मिलाप नहीं होगा, अतः तुमने जो कहा कि हम

पिताओं के साथ चली जायेंगी कैसे संभव हो सकता है, इसलिये उनको भय होगा ही, तुम उनको भय मत करो, लौट कर घर चली जाओ।

(अब वास्तविक स्थिति पक्ष में योगमाया के कारण कोई भी भगवान् के पास में नहीं पहुंच सकता है, इस प्रकार कहने से भगवान् ने यह सूचना कर दी कि यहां रहने से अन्य पिता आदि के आने की शंका भी मत करो, यहां पर कोई भी नहीं आ सकता है।)

भगवान गोपियों से कहते हैं कि जिस प्रकार यहां बहुत सी गोपियां नहीं आई हैं उसी प्रकार तुमको भी नहीं आना चाहिये था, यह कह कर भगवान् ने यह सूचन किया है कि 'काश्चित्कृष्णान्ति कं ययुः' ७।२६, इस श्लोक में कहीं शब्द परागोपियों का भाव जिस प्रकार दृढ़ नहीं था उसी प्रकार तुम्हारा भी भाव दृढ़ नहीं है।

यदि गोपियां यह कहें कि हमारे पिता भी स्त्रियों का स्वभाव जानते हैं, इसलिए यहां नहीं आयेंगे अथवा हमारी लड़कियां भगवान् के पास गई हैं, इस बात को जानकर नहीं खोजेंगे।

तब इसका उत्तर देते भगवान् कहते हैं कि (पुत्राः) इस प्रकार की बात को सुनकर पुत्रों को बड़ी लज्जा आती है, इसलिये पुत्र अपनी-अपनी माताओं की सर्वथा रक्षा करते हैं, अतः पुत्रों के ऊपर दया करके, जिससे पुत्रों को भय नहीं हो, आप सबको व्रज में लौटकर जाना चाहिये।

यदि गोपियां कहें कि पुत्र तो हमारे बालक हैं, फिर खोज करने कैसे आयेंगे ?

तब इसका उत्तर देते भगवान् कहते हैं कि (भ्रातरः) तुम्हारे भ्राता तो समर्थ हैं, अर्थात् खोज करने योग्य हैं, तथा लजा वाले हैं, तुमको बिना देखे ही लजा से कदाचित् शरीर भी त्याग कर दें, इसलिये भाइयों के स्नेह से तुमको लौटकर जाना चाहिये।

कदाचित् गोपियां कहे कि हमारे भ्राता लोक में अपकीर्ति होगी, इस भय से खोजने नहीं आयेंगे, कारण कि हमारे भाई तरुण हैं, और हम सब तरुणी स्त्रियां हैं, इस लोक में बुराई होगी लोग निन्दा करेंगे, इस भय से यहां नहीं आयेंगे।

इसका उत्तर देते भगवान् कहते हैं कि (वः पतयः) तुम्हारे पति तो अवश्य ही खोज करेंगे, तुम्हारे पतियों को तुम्हारे साथ भोग करने की अपेक्षा भी है, कारण कि संयोग रस का अधिकार तुम्हारे पतियों को ही है, अतः दूसरे का धन दूसरे को देना नहीं चाहिये, अर्थात् तुम सब अपने-अपने पतियों के धन हो, इसलिये पतियों का धन हम सरीखे अन्य पुरुषों को देना नहीं चाहिये। यदि तुम्हारी भोग करने की इच्छा हो तो गोकुल में अपने-अपने पतियों से ही पूरी करो वहीं होगी।

इस प्रकार माता, पिता, पुत्र आदि सब लोग तुमको घर में नहीं देखकर अवश्य खोज करेंगे, फिर बहुत काल तक ढूंढ़ने पर भी जब तुम नहीं मिलोगी तब या तो मर गईं या कोई अपहरण-भगाकर ले गया, इस प्रकार जानकर भयभीत होंगे, और रुदन करेंगे।

यदि गोपियां कहें कि हमारा अब पति-पुत्र आदि से कोई सम्बन्ध नहीं है, भले ही उनको भय हो।

तब इसका उत्तर देते भगवान् कहते हैं कि यह आपका कहना उचित नहीं हैं (बन्धुसाध्वसम्) तुम्हारे माता पिता आदि बान्धव हैं, इसलिये तुमको माता पिता आदि के साथ ही में रहना चाहिये, वनमें रहने में पूर्व में कहे बलवान बाधक विद्यमान है अतः आप सबको लौटकर व्रज में जाना चाहिये, इस प्रकार तामस तामसी गोपियों से भगवान् ने कहा है ॥ २० ॥

(सुबो०) एवमुक्ते परितो विलोकयन्तीराह दृष्टं वनमिति।

भगवान् ने जब इस प्रकार लौट कर घर जाने के लिये कहा, तब गोपियां चारों ओर वन को देखने लग गईं, उस समय भगवान् बोले।

दृष्टं वनं कुसुमितं राकेशकररञ्जितम्।
यमुनानिललीलैजत्तरुपल्लवमण्डितम् ॥ २१ ॥

पदपदार्थ—(यमुनानिललीलैजत्तरुपल्लवमण्डितम्) श्रीयमुना जी के जल सम्बन्धी पवन की जो लीला धीरे-धीरे चलना, उस चलने से हिल रहे वृक्षों के पत्तों से शोभित (राकेशकररञ्जितम्) पूर्णिमा का ईश जो पूर्णचन्द्र, उसकी किरणों से रँगा हुआ (कुसुमितं) पुष्पित—पुष्प जिसमें खिले हुए (वनं) इस प्रकार के वन को (दृष्टं) देख लिया ॥ २१ ॥

भावार्थ—श्रीयमुना जी के जल सम्बन्धी पवन की लीला से हिल रहे वृक्षों के पत्तों से शोभित तथा पूर्ण चन्द्र की किरणों से रँगा हुआ, पुष्प जिसमें खिले हुए इस प्रकार का वन तुम गोपियों ने देख लिया, अब पधारो ॥ २१ ॥

(सुबो०) एषा हि राजसराजसी, अग्रिमा राजसतामसी। यदि वनदर्शनार्थमागतम्, तदा दृष्टमेव वनम्, अतः प्रतियातेति। अर्थात् सर्वदा दृष्टमेवैतद्वनम्, नात्र भयमिति ज्ञापितम्। गृहे च न गन्तव्यमिति। यदि गृहगमनापेक्षा, तदैव गन्तव्यमिति वचनात्। तच्च वनं कुसुमितमिति वर्णयति, यथा तासामन्यासक्तिर्भवति। इदानीं पुष्पाण्येव जातानि, न फलानीति वा। कुसुमिते वने रतिः कर्तव्येति भावः। सर्वत्र मोहः प्रेषणं चानुस्यूतम्। किञ्च, राकेशस्य चन्द्रमसः करैः रञ्जितम्। उद्दीपका एते। वनं तामसम्, पुष्पाणि राजसानि, चन्द्रकिरणाः सात्त्विका इति। अयं राकेश इति पूर्णचन्द्रः। अतः पूर्णत्वे स्थातव्यम्। पर्वादिबुद्धौ तु गन्तव्यमिति। वायुमपि तत्रत्यं वर्णयति यमुनेति। यमुनासम्बन्धिनानिलेन लीलया ये एजन्तः कम्पमानास्तरुपल्लवास्तैर्मण्डितमिति। जलसम्बन्धात् लीलया चलनात् तरूणां सुगन्धानां सम्बन्धात् त्रिगुणो वायुरुक्तः। वर्णनायां रसोद्बोधके चोपयुज्यते ॥ २१ ॥

ऊपर के इस २१ वें श्लोक में कही गई गोपियां राजस राजसी हैं, इसलिये वन देखने की इच्छा होना युक्त ही है, इससे आगे २२ वें श्लोक में राजस तामसी हैं। और पीछे के श्लोक में राजस सात्त्विकी हैं।

भगवान् गोपियों से कहते हैं कि यदि तुम्हारा आगमन वन देखने के लिये हुआ है तो वन देख लिया, अब अपने-अपने घर पधारो। स्थित पक्ष में कहते हैं कि यह वन सर्वदा ही देखा है, इस वन में किसी प्रकार का रात्रि में भी भय नहीं है, अतः घर लौटकर नहीं जाना चाहिये। वनमें ही रहो। इस प्रकार भगवान् ने कहा है। कारण कि यह वन पुष्प युक्त है, भगवान इस प्रकार वन का वर्णन करते हैं, जिस प्रकार गोपियों की भगवान में आसक्ति हो।

अथवा दूसरा अर्थ भगवान् कहते हैं कि गोपियो ! अभी तो पुष्प ही उत्पन्न हुये हैं, फल नहीं लगे, अर्थात् उद्दीपन सामग्री हुई है, मेरा दर्शन हुआ है। रमण के पूर्व जितनी सामग्री की अपेक्षा

थी, उतनी सर्वसिद्ध हो चुकी है, फल तो जब रमण होगा तब प्राप्त होगा, इसलिये रमणरूप फल प्राप्ति के लिये यहीं रहना चाहिये, पुष्पित वन होने पर ही रमण करना चाहिये, यह गूढ भाव है। यहां सर्वत्र भगवान् के भीतर का भाव गोपियों को मोह करा के वन स्थिति में ही है, और ऊपर से घर भेजने का है।

भगवान् कहते हैं कि गोपियो देखो, यह वन कैसा पूर्णचन्द्र की किरणों से रञ्जित-रँगा हुआ है, चन्द्रकिरण उद्दीपक हैं, और वन तामस है।

यहां राजस राजसी गोपियों में अवान्तर भेद सूचन किया है, इसीलिये चतुर्थ पाद में यमुना जी के सम्बन्ध से गुणातीतत्व भी है।

यद्यपि 'वनं तु सात्त्विको वासः' इस प्रकार एकादश स्कन्ध में भगवान् ने वन में सात्त्विकवास कहा है, तथापि सात्त्विकवास की मर्यादा में विषय सम्बन्ध का अभाव होना मुख्य है, कारण कि मोह करनेवाला वनवास वैराग्यपोषक है किन्तु यहां पुष्टिलीला में तो रमण स्थान होने के कारण मोह करनेवाला है, इसलिये तामस है। इसी से अग्रिमाध्याय में जहां पर रति स्थान नहीं है, वहां पर व्रजभक्त प्रविष्ट नहीं हुए।

'वृन्दावनं गुणातीतं मुनयश्चापि पक्षिणः' इस वेणुगीत की सुबोधिनी में वृन्दावन को गुणातीत कहा है, किन्तु इस समय केवल भोगोपयोगी होने के कारण तामसत्व ही है, और जो भक्त कृतार्थ होने के लिये प्रयत्नशील हैं, उनके प्रति गुणातीत है, कारण कि इस प्रकार के उन भक्तों को एक भगवत्परता साधक है और जो भक्त कृतार्थ हुए लीला सृष्टिवाले भगवान् के साथ रमण करने की इच्छा करनेवाले हैं उन भक्तों के प्रति रमणेच्छाभाव उत्पन्न करता है, अतः तामसत्व है, इस प्रकार वन के दोनों ही रूप हैं, इसलिये वन को तामसत्व कहा है।

पुष्प राजस हैं, चन्द्र किरणें सात्त्विक हैं।

भगवान् कहते हैं कि गोपियो ! यह देखो राकेश–पूर्ण चन्द्रमा है, इसलिये यहां सर्वभाव पूर्ण होगा, यहां ही रहना चाहिये और यदि तुम्हारी पर्वादि बुद्धि हो, तो लौट कर घर जाना चाहिये। अर्थात् पूर्णिमा पर्वदिन है, इस प्रकार बुद्धि हो तो घर जाओ।

यदि कहो कि मर्यादामार्ग में कहा है कि 'नामावास्यायां च पौर्णमास्यां च स्त्रियमुपेयाद' 'यदुपेयान्निरिन्द्रियः स्यात्'।

अमावास्या और पूर्णिमा में पुरुष को स्त्री के पास नहीं जाना चाहिये, और यदि पुरुष उक्त तिथियों में स्त्री के साथ समागम करे तो इन्द्रियरहित हो जाये, यह श्रुति वाक्य है, और पर्वाण्याद्याश्चतस्रश्च' पर्वदिन से प्रथम चार तिथियों में भी पुरुष स्त्री से समागम नहीं करे, यह स्मृति वाक्य है, इन वाक्यों में पुरुषाधिकार से ही प्रवृत्ति दीखती है, इसलिये पुरुष को ही दोष है स्त्री को नहीं है, फिर भगवान् ने 'पर्वादिबुद्धौ' 'पर्वादिबुद्धि हो तो घर जाओ' इस प्रकार गोपियों से क्यों कहा।

इस शंका का उत्तर इस प्रकार है कि यद्यपि शास्त्र प्रवृत्ति पुरुषाधिकार से ही है, तथापि ज्योतिष्टोम आदि का फल जिस प्रकार स्त्री पुरुष दोनों को होता है, कारण कि दोनों साथ ही कर्म करते हैं, 'सहोभौ च चरतां धर्मम्' स्त्री पुरुष दोनों ही साथ धर्माचरण करें, इस प्रकार स्मृति भी कहती है तथा प्रायश्चित्तादि प्रतिपादक स्मृतियों के अनुरोध से निषिद्ध फल भी स्त्री पुरुष दोनों को ही समान होता है, इसलिये भगवान् ने गोपियों से कहा है कि तुम्हारी पर्वादि में बुद्धि हो तो घर लौट कर जाना चाहिये।

अब भगवान् वृन्दावन की वायु का वर्णन करते हैं। 'यमुनानिललीला' इत्यादि यमुना जल सम्बन्धी पवन के धीरे-धीरे चलने से हिल रहे वृक्षों के पत्तों से वन शोभित हो रहा है, अर्थात् वन की वायु यमुना जल के सम्बन्ध से शीतल, धीरे-धीरे गति से मन्द और सुगन्धयुक्त वृक्षों के सम्बन्ध से सुगन्धित, इस प्रकार तीन गुणवाली वायु कही है, इस प्रकार त्रिगुणवायु का वर्णन करने में और रस उद्बोधन करनेवाली गन्ध के लाने में वायु का उपयोग है, अथवा प्रमादिकों में रस उद्बोधन करने में वायु का उपयोग है, कारण कि श्रम आदि को वायु निवारण करती है।

तात्पर्य यह है कि इस प्रकार गुणयुक्त वन तुमने देख लिया, अब तुम अपने-अपने घर पधारो। स्थितिपक्ष में श्रीवृन्दावन इस प्रकार रमणोपयोगी रसोद्बोधक सर्वसामग्री युक्त है, अतः यहां रहोगी तो सर्व रस प्राप्त होगा, इस प्रकार भाव सूचन किया है ॥ २१ ॥

(सुबो०) एवं वनं वर्णयित्वा अन्यासक्तिमुत्पाद्य ततो गन्तव्यमित्याह तद्यातेति।

इस प्रकार वन वर्णन से भगवान् अपने में अधिक आसक्ति उत्पन्न करके आगे के श्लोक में कहते हैं कि आप सब घर पधारो।

तद्यात मा चिरं गोष्ठं शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः।
क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान् पाययत दुह्यत ॥२२॥

पदपदार्थ—(हे सतीः) हे पतिव्रताओ ! (यस्माद् वनं दृष्टं) जिससे तुमने वन देख लिया (तत् तस्मात्) इस कारण से (गोष्ठं) व्रज को (यात) पधारो (चिरं) विलम्ब देर (मा) मत करो (पतीन्) अपने-अपने पतियों की (शुश्रूषध्वं) सेवा करो (वत्साः) गायों के बच्चे (च) और (बालाः) तुम्हारे बच्चे (क्रन्दन्ति) दूध पीने के लिये रुदन करते चिल्ला रहे हैं (तान्) उन बच्चों को (पाययत) पिवाओ (दुह्यत) गायों को दुहो ॥ २२ ॥

भाषार्थ—हे पतिव्रता स्त्रियो ! तुम जल्दी व्रज को पधारो, और वहां जाकर अपने अपने पतियों की सेवा करो, तुम्हारे बालक और गायों के बालक दूध पीने के लिये रुदन करते चिल्ला रहे हैं, उनको स्तन-पान कराओ, गायों को दुहो ॥ २२ ॥

(सुबो०) तत्तस्माद्वनं दृष्टमिति कार्यस्य सिद्धत्वाद्यात एतादृशं वनमिति मा यातेत्यपि ध्वनिः। चिरं मा विलम्बो न कर्तव्यः, चिरं मा यातेति च। न हि कश्चिद्भगवन्तं विहाय गोष्ठं गच्छति। किञ्च, गोष्ठं यात। तत्र गवां शुश्रूषणमपि भवति। किञ्च, तत्र गतानां धर्मः सिध्यतीत्याह शुश्रूषध्वमिति। पतिसेवा स्त्रीणां धर्मः तत्रापि भवत्यः सतीः सत्यः। पतिविशेषणं वा। पूर्वजन्मनि ताः पतिव्रताः स्त्रियः स्थिताः पुरुषभावनया पुरुषा जाताः, भवन्तश्च पुरुषाः विपरीता जाता इति, अग्रेऽपि वैपरीत्यं भवीष्यतीति विचार्यं गन्तव्यमिति भावः। धर्मस्तत्र, रसस्त्वत्रैवेति। पतीनीति बहुवचनात् धर्माभावश्च। या भवतीनां मध्ये पतिव्रताः ता वा गच्छन्त्विति। सर्वासामेवातथात्वेन गन्तव्यमेवेति न हि पति-

व्रताः समायान्ति, लौकिकधर्मपरायणाः । अतो भगवद्वाक्यं रसालत्वात् तद्भावमेव सूचयति । किञ्च, वत्सास्तथैव बद्धाः, बालाश्च क्षुधिताः, ते क्रन्दति । अतस्तेषां रोदननिवृत्त्यर्थं तान् पाययत स्तनम्, दुह्यत च गाः । परार्थं च भवतीनां जीवनम्, न स्वार्थम् । अतो दुःखितानां स्थानो सुखाकाङ्क्षिभिर्न गन्तव्यमिति ॥२२॥

भगवान् कहते हैं कि तुम वन देखने के लिये आई हो, वन देख लिया, तुम्हारा कार्य सिद्ध हो गया, अब व्रज पधारो ।

स्थिति पक्ष में—इस प्रकार का सर्वगुणसम्पन्न वन देख लिया, अतः (मायात) मत जाओ। यह ध्वनि है (चिरं मा) विलम्ब मत करो शीघ्र जाओ । स्थिति पक्ष में (चिरं मायात) बहुत काल तक व्रज मत जाओ, यह भाव है ।

वास्तव में तो भगवान्–षडैश्वर्यवान् को छोड़कर कोई भी गोष्ठ में नहीं जाता है ।

भगवान् कहते हैं कि गोपियो ! आप सब व्रज में पधारो, वहां गायों की सेवा भी होती है, और व्रज में जानेवालों को धर्म भी सिद्ध होता है, इस बात को भगवान् कहते हैं कि (सुश्रूषध्वं) पति सेवा करना स्त्रियों का धर्म है, उसमें भी आप सब सतियां हैं, पतिव्रता हैं, अथवा 'सतीः' यह विशेषण 'पतीन्' इसका है, 'सतीन् पतीन्' इस प्रकार अन्वय करने से पतियों का उपहास करने वाला वचन भगवान् ने कहा है, कारण कि लोक व्यवस्था इस प्रकार की है, उसको कहते हैं 'पूर्वजन्मनि' पहिले जन्म में तुम्हारे पति पतिव्रता स्त्री थे, पुरुष भावना करने से पुरुष हुए हैं, और तुम सब पुरुष स्त्री हो गये हो ।

प्रकाशकार कहते हैं कि (भवन्तश्च पुरुषाः) इस सुबोधिनी में इस प्रकार प्रतिभात होता है कि जिन गोपियों से भगवान् ने उक्त वाक्य कहा है वे गोपियां श्रुतिरूपाओं से भिन्न हैं। इस प्रकार जो स्त्री थीं वे पुरुष और जो पुरुष थे वे स्त्री हुईं, आगे भी तुम्हारे सब के घर न जाने पर स्त्री भावना से तुम्हारे पति स्त्री हो जायेगे, इस प्रकार तुम्हारे नहीं जाने से विपरीतता होगी अतः इस बात का विचार करके आप सबको घर ही जाना चाहिये, यह भाव है ।

व्रज में जाने पर पति आदि की सेवारूप धर्म है और रस तो यहां ही है । अर्थात् पत्यादि सेवा धर्म की इच्छा हो तो व्रज में जाइये, और रसप्राप्ति की इच्छा हो तो यहां ही रहो मत जाओ ।

'पतीन्' श्लोक में बहुवचन कहा है, इससे यह भी सुचित होता है कि अपने एक पति की ही सेवा करने से धर्म सिद्ध होता है, बहुत से पतियों की सेवा करने से धर्म सिद्ध नहीं होता है, अतः वहां जाने में धर्म भी सिद्ध नहीं होता है, अतः जो तुम सब में एक अपने ही पति की सेवा करनेवाली पतिव्रता स्त्रियां हों वे जाएं । और जो कदाचित् सब में कोई भी पतिव्रता नहीं हो तो नहीं जाना चाहिये, कारण कि लौकिक धर्मपरायणपतिव्रता स्त्रियां अपने पतियों का त्याग कर इस प्रकार वन में नहीं आती हैं । फिर जो पतियों का त्याग कर तुम सब आई हो, इससे ज्ञात होता है कि तुम सब में पतिव्रता लौकिक धर्मवाली कोई भी नहीं हैं, भगवान् के वाक्य रसाल-रस से भरे हैं अतः गोपियों की आसक्ति अपने लौकिक पतियों में नहीं है, इस बात को सुचन करते हैं ।

भगवान् कहते हैं कि गोपियो ! तुम्हारे घरों में गायें बिना दुही, और बछरा बिना दूध पिये ही बँधे हैं, और तुम्हारे बालक भी भूखे हैं और रुदन कर रहे हैं, इसलिये उनका रोना निवृत्त करने के लिये स्तनपान कराओ, और गायों को दुहो । तुम्हारा जीवन परार्थ है, स्वार्थ के लिये

नहीं है, इसलिये सुख की इच्छा करनेवालों को दुःखियों के स्थान में नहीं जाना चाहिये । इस प्रकार भगवान ने राजस तामसी गोपियों से कहा है ॥ २२ ॥

(सुबो०) एवमुक्ते याः स्निग्धदृष्टयो जाताः, ताः प्रत्याह अथवेति ।

इस प्रकार भगवान् के कहने पर जो गोपियां राजस सात्विक भाववाली थीं उनकी स्निग्ध दृष्टि देखकर भगवान् उनके प्रति बोले ।

अथवा मद्भिस्नेहाद् भवत्यो यन्त्रिताशयाः ।
आगता ह्युपपन्नं तत् प्रीयन्ते मम जन्तवः ॥ २३ ॥

पदपदार्थ—(अथवा) पक्षान्तर भगवान् कहते हैं (मत्-मयि) मुझ में (अभिस्नेहात्) सर्वभाव से स्नेह होने से (यन्त्रिताशयाः) वश में हुआ–लग गया अन्तःकरण जिनका इस प्रकार की (भवत्यः) आप सब (आगताः) यहां आई हो (तत्) वह आपका आगमन (उपपन्नं) युक्त ह (हि) कारण कि (मम) मेरे सम्बन्धी (जन्तवः) सर्व प्राणी (प्रीयन्ते) स्वयं ही मुझमें प्रेम करते हैं ॥ २३ ॥

भाषार्थ—भगवान् पक्षान्तर कहते हैं कि तुम्हारा सब काम मुझ में अत्यन्त स्नेह होने से अन्तःकरण मेरे अधीन होकर मुझ में लग गया है, इसीसे तुम सब मेरे समीप आई हो, यह बात योग्य ही है, कारण कि मेरे सम्बन्धी सर्व प्राणी मुझमें प्रेम करते हैं ॥ २३ ॥

(सुबो०) मया वृथैवैते पक्षाः कल्पिताः, वस्तु तस्तु मां द्रष्टुमेवागताः । स्नेहात् सिद्धान्तोऽयं पूर्वपक्षार्थमनुद्यते । निरुक्तो भावो गुणात्मको दोषात्मको वा न फलं प्रयच्छति, लौकिको भवति, अतः अनूद्यते । मयि योऽयमभितः स्नेहः सर्वभावेन तेन कृत्वा यन्त्रितः आशयो यासाम्, तादृश्यश्चेद्भवत्यः इहागताः, तदुपपन्नमेव । तर्हि को विलम्ब इति चेत्, तत्राह प्रीयन्ते मम जन्तव इति । मम सम्बन्धिनः सर्व एव जन्तवः स्वयमेव प्रीता भवन्ति । न तु मया किञ्चित् कर्तव्यम् । स्नेह एव मयि, न तु कृतिरिति । ततः साधारणमिममर्थं ज्ञात्वा प्रतियात । स्थितिपक्षे तु स्पष्ट एवार्थः । तद्यातमेति फलिष्यति । न हि स्नेहादागतः प्रेर्यमाणोऽपि गच्छति । यन्त्रितो वशीकृतः । अन्तःकरणे अन्याधीने जाते न किञ्चिदवशिष्यते । निष्कपटा च प्रीतिः कर्तव्येत्युभयत्र भावः ॥ २३ ॥

भगवान् कहते हैं कि मैं ने पहिले वृथा ही इतने पक्षों की कल्पना की, वास्तव में तो तुम सब मेरा दर्शन करने के लिये आई हो । यद्यपि स्नेह से भगवान् का दर्शन करने जाना मुख्य सिद्धान्त पक्ष है, तथापि इस सिद्धान्त को पूर्व पक्ष करने के लिये यहां अनुवाद किया है ।

सभी भाव मुख से कहा फल साधक नहीं होता है, कारण कि लौकिक भाव लोक में प्रकट होता है, इसी बात को साधारण रीति से कहते हैं कि 'निरुक्तो भावो गुणात्मको दोषात्मको वा न फलं प्रयच्छति' गुणरूप तथा दोषरूप भाव का वर्णन करे तो उसका फल मिलता नहीं है । दान आदिरूप धर्म यदि मुख से कहा जाता है तो फल दान नहीं देता है, इसी बात को भगवान ने उद्धव जी से कहा है, 'कृतस्यापरिकीर्तनम्' किये हुए को कहे नहीं । और 'धर्मः क्षरति कीर्तनात्' धर्म कीर्तन करने से नष्ट हो जाता है । अर्थात् उसका फलदान करना नष्ट हो जाता है ।

इसी तरह बुरे कर्म भी करके सबके सामने कह दे तो क्षीण हो जाते हैं, इस बात का विचार करके कि कहीं हमारे कहने से भगवान् के दर्शन का फल क्षीण-नष्ट हो न जाये, इस कारण से आप सब कहती नहीं हो।

यदि रस शब्द से कह दिया जाता है तो फिर रसत्व की हानि हो जाती है, इसलिये सभी भाव कहने से लौकिक हो जाता है, और फिर लौकिक हो जाने से फलसाधक नहीं होता है। अतः भगवान् ने जिस प्रकार गृह गमन की आज्ञा करके घर नहीं जाना दृढ़ किया है, उसी तरह स्थूणा खनन न्याय से दृढ करने के लिये लौकिकत्व का अनुवाद संपादन करते हैं।

पूर्वपक्ष में यह भाव स्वयं फल है, अतः फल इष्ट नहीं है, इसलिये गुणात्मक तथा दोषात्मक भाव कहने से फल नहीं साधन करता है, लौकिक हो जाता है। अतः तुम्हारे स्नेहपूर्वक आगमन को पूर्व पक्ष करने के लिये यहां अनुवाद किया है।

यदि कहो कि सिद्धान्त तो दूषणरहित है, फिर पूर्व पक्ष के लिये अनुवाद क्यों किया है। इसके उत्तर में 'निरुक्तोभावः' इत्यादि कहा है।

स्नेह से सर्वत्यागपूर्वक आगमन रूप जो भाव है, वह गुणरूप तथा दोषरूप भी हो सकता है। अर्थात् जिस समय भगवान् षडैश्वर्यवान् हैं, हमारे काम-इच्छा की पूर्ति करेंगे, इस प्रकार भाव भक्त का होता है, उस समय भाव गुणरूप होता है, और जिस समय भगवान् जार हैं, हमारी इच्छा पूरी करेंगे, इस प्रकार भक्त का भाव होता है, उस समय भाव दोषरूप होता है, कारण कि लौकिक हो जाता है।

ये दोनों प्रकार के भाव भगवदात्मक फल नहीं देते हैं, इन दोनों प्रकार के भावों को लक्ष्य में रखकर स्नेहमूलक सर्वत्यागपूर्वक भगवान् के पास में आगमन को पूर्व पक्ष करने के लिये अनुवाद किया है।

'निरुक्तोभावः' इस पंक्ति पर स्वतन्त्र लेख है, उसको कहते हैं, यहां भगवान् ने सर्वात्मभाव को फलरूप बतलाया है।

यदि सर्वात्मभावको फलान्तर साधक मानेंगे तो साधन होने से फलरूप नहीं होगा, भगवान् फलरूप हैं, अलौकिक भाव यदि गुणात्मक, दोषात्मक हो जायेगा तो भगवद्रूपता नहीं होगी। यदि इस बात को नहीं मानते हैं तो जिस प्रकार लौकिक स्त्रियों का अपने पति आदि में भाव होता है, उसी प्रकार लौकिक की तरह भगवान् में भावना करने से पहिले कहे दोनों प्रकार के गुणरूप तथा दोषरूप भावों को लौकिकत्व ही है जिस प्रकार अन्तर्गृहगता गोपियों को था। यह भाव सर्वात्मभाव से लभ्य भावात्मक फल साधन नहीं करता है। इसलिये भगवान् ने कहा है कि अभिमतस्नेह–सर्वात्मभाव भगवद्विषयकस्नेह, वह पुष्टिमार्ग के विचार से गुण रूप है, कारण कि स्वरूप मात्र साधक है। और मर्यादा मार्ग के विचार से दोषरूप है, कारण कि विहित धर्म से विरुद्ध है।

भगवान् कहते हैं गोपियो! जिस भक्त में जिस प्रकार का भाव होता है, उस भाव के अनुसार उस भक्त को फल भी मिलता है। मुझसे फल की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए, जिसका अलौकिक भाव हो, लौकिक भाव नहीं हो उसको स्नेह ही निरन्तर करना चाहिये। स्नेह तो घर में रहकर भी हो सकता है, इसलिये तुमको घर जाना चाहिये, इस प्रकार गमन पक्ष में तात्पर्य है। स्नेह का स्वरूप तुमने जाना नहीं है, यदि स्नेह का स्वरूप जानतीं तो फिर फल मिलने की इच्छा नहीं करतीं, इसलिये मैंने सिद्धान्तरूप भगवद्भाव, और उसका स्वरूप बतलाने के लिये पूर्व पक्ष से अनुवाद किया है।

स्थिति पक्ष में तो सर्वात्मभाव के वश में होकर तुम सब आई हो, इसलिये तुम्हारा आगमन युक्त ही है, अयुक्त नहीं है, यदि तुम सर्वात्मभाव के वश में आई नहीं होतीं तो अन्तर्गृहगता गोपियों की तरह प्रतिबन्ध हो जाता, अतः जो प्रतिबन्ध निवृत्त हो गया, उसको फिर घर जाकर नहीं लगाना चाहिये, यहां पर ही रहना चाहिये, यह भाव है।

गोपियो! मेरे संबंधी-जिनका मुझसे सम्बन्ध हो गया है, वे सर्व प्राणी मुझमें प्रेम करते हैं, कारण कि मैं परमानंदरूप हूँ और अन्य पतिपुत्र आदि दुःख देनेवाले हैं।

पतिपुत्रादि सम्बन्धी प्राणी मुझमें प्रेम नहीं करते हैं, तुम्हारी प्रीति करने की इच्छा हो तो यहां ही रहो। इस प्रकार स्थिति पक्ष में भगवान् का तात्पर्य स्वतन्त्र लेख में कहा।

यदि कहो कि इस प्रकार स्नेह भाव से आपका आगमन युक्त है तो 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस प्रतिज्ञा का पालन करना चाहिये विलम्ब क्यों करती हो।

तब इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि (प्रीयन्ते ममजन्तवः) मत्सम्बन्धी सर्व ही प्राणी स्वयं ही प्रीति युक्त होते हैं, उनके लिये मुझे कुछ करना नहीं पड़ता है तो फिर उक्त आपकी प्रतिज्ञा सिद्ध कैसे होगी।

इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि (स्नेह एव मयि न तु कृतिः) भगवान् कहते हैं कि मैं भाव स्वरूप हूँ, अतः मुझमें स्नेह ही हो सकता है कृति नहीं हो सकती है। अर्थात् जो मुझको निरूपधि–उपाधिरहित स्नेह से भजते हैं, उनमें भी निरुपधि प्रेम-स्नेह करता हूं। अतः इनमें से ही मेरी प्रतिज्ञासिद्धि होती है, मुझ द्वारा कृति करना तो अशक्य ही है, कारण कि नमन आदि क्रिया जीवधर्म है, भगवान् का धर्म नहीं है। इसलिये यह नियम सर्वत्र सर्व साधारण भक्तों में है, केवल तुममें ही नहीं है। इस अर्थ—नियम को जानकर घर पधारो।

स्थिति पक्ष में तो अर्थ स्पष्ट ही है (तद्यात मा) मत जाओ, इस प्रकार अन्वय होगा। जो कोई स्नेह से आया हो, और उसको प्रेरणा भी की जाये, फिर भी वह लौटकर घर नहीं जाता है, कारण कि (यन्त्रितः) वश में हो गया है जब अन्तःकरण अन्याधीन हो जाता है, फिर कुछ शेष नहीं रहता है। अर्थात् गोपियों के अन्तःकरण भगवान् के अधीन हो गये हैं, अन्तःकरण के अधीन इन्द्रियादि सर्व हैं, इस प्रकार सर्व भगवान् के अधीन हो गया है शेष अंश कुछ भी नहीं रहा है।

अब भगवान् फलित अर्थ उपदेश के लिये कहते हैं कि निष्कपट प्रीति करनी चाहिये, यह दोनों पक्ष में है, यहां रहने में, और घर जाने में यह भाव है, अथवा परस्पर प्रीति करनेवाले दोनों को कपटरहित प्रीति करनी चाहिये, यह भाव है ॥ २३ ॥

भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया।
तद्बन्धूनां च कल्याण्यः प्रजानां चानुपोषणम् ॥ २४ ॥

पदपदार्थ—(हे कल्याण्यः) हे कल्याणियो! (अमायया) निष्कपट–कपटरहित हो करके (भर्तुः) पति का (शुश्रूषणं) सेवा करना (च) और (तद्) पति के सम्बन्धी (बन्धूनां) पिता आदि का अर्थात् स्त्री के ससुर आदि का (च) और (प्रजानां) पुत्र आदि का (अनुपोषणम्) अन्नादि के दान से तथा दूध पिलाने से पोषण करना (स्त्रीणां) स्त्रियों का। (परः) परम-उत्कृष्ट-मुख्य (धर्मः) धर्म है ॥ २४ ॥

भाषार्थ—हे कल्याणियो! निष्कपटता से पतिसेवा करना, तथा पति के सम्बन्धियों का, तथा प्रजाओं का अनुपोषण करना स्त्रियों का श्रेष्ठ उत्तम धर्म है ॥ २४ ॥

(सुबो०) एवं राजसीः निरुप्य सात्विकीर्निरूपयति । सत्त्वयुक्ताः निरूप्यन्ते । ततो रजोयुक्ताः । स्त्रीणां मुख्यो धर्मः भर्तृशुश्रूषणमित्याह भर्तुरिति । स्वभावतो जीवानां भगवानेव भर्ता, तत्रापि स्त्रीणां स्त्रीशरीरं प्राप्तानां व्यभिचाराभावाय भगवानेव सेव्यः लौकिके तु परिग्रहात् भर्तृत्वेनाभिमतः सेव्यः । स एव परो धर्मः । तत्राप्यमायया । कापट्ये तु न सेवायां फलम् । अन्ये सर्वे धर्मा अवराः । तद्बन्धूनां श्वशुरादीनाम् । कल्याण्य इति सम्बोधनात् भवतीनां सर्वेऽपि सन्तीति ज्ञापितम् । प्रजानां च पुत्रादीनामनुपोषणं अन्नादिदानेन स्तनादिदानेन च । पित्रादिभिः पोष्यमाणानां स्वतोऽपि पोषणं वा ॥ २४ ॥

इस प्रकार राजसी गोपियों का निरूपण करके अब आगे तीन श्लोकों में सात्विकी गोपियों का निरूपण करते हैं, प्रथम आगे के श्लोक में सात्विकी-सात्विक भाव वाली सात्विक सात्विकी गोपियों से भगवान् कहते हैं । इसके अनन्तर सात्विक राजसी और अन्त में सात्विक तामसी गोपियों से कहेंगे ।

स्त्रियों का मुख्य धर्म पति की सेवा करना है, श्लोक में (स्त्रीणां) इस प्रकर बहुवचन का प्रयोग है, और 'भर्तुः' यह एकवचन है, अतः सर्वस्त्रियों के एक पति की सेवा का विधान यहां किया है, सर्व के एक पति भगवान् ही हैं, अतः भगवान का भजन–सेवा ही यहां विहित की है। इस आशय से स्थिति पक्ष में भगवान् कहते हैं, 'भर्तुः' इत्यादि से । स्वभाव से सर्व जीवों का पति भगवान् ही हैं । यहां 'बन्धु' तथा 'प्रजा' शब्द से सखी और भाव परम्परा कही है, सर्वजीवों में भी जो स्त्रियां है, अर्थात् जिनको स्त्री शरीर प्राप्त हुआ है, उनको व्यभिचार दोष दूर करने के लिये भगवान् ही सेवा करने योग्य हैं, अतः भगवान् की ही सेवा करनी चाहिये ।

लौकिक में तो जिनके साथ विवाह हुआ है, और पति भाव से अभिमान है उसकी सेवा करनी चाहिये, ये ही स्त्रियों का मुख्य धर्म है ।

सेवा निष्कपट–कपट रहित करनी चाहिये, कपट से सेवा करने में फल नहीं मिलता है, पति-सेवा से अन्य सर्वधर्म अवर छोटे हैं । नीचे हैं ।

'तद्बन्धूनां' और पति के सगे-सम्बन्धी जो ससुर आदि हैं उनकी भी सेवा करनी चाहिये । (हे कल्याणियो !) इस सम्बोधन से यह सूचन किया है कि तुम्हारे सभी ससुर आदि सम्बन्धी विद्यमान हैं, और तुमको पुत्रादि का अनुपोषण अन्न आदि देकर तथा स्तन-पान कराकर करना चाहिये, यद्यपि पिता आदि पुत्रादिकों का पोषण करते हैं, तथापि माताओं को भी करना चाहिये ॥ २४ ॥

(सुबो०) तथापि स पतिः समीचीनो न भवतीति चेत्, तत्राह दुःशील इति ।

यद्यपि आपने पति आदि की सेवा करना स्त्रियों का मुख्य धर्म कहा है, वह ठीक ही है, तथापि हमारे पति अच्छे स्वभाववाले नहीं हैं, इस प्रकार गोपियां कहें तो इसके उत्तर में भगवान् सात्विक राजसी गोपियों से कहते हैं ।

दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा ।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी ॥ २५ ॥

पदपदार्थ—(दुःशीलः) दुष्ट स्वभाववाला (दुर्भगः) भाग्यहीन (वृद्धः) बुड्ढा (जडः) जिसको ज्ञान नहीं, मूर्ख (रोगी) रोग वाला (वा) अथवा (अधनः) निर्धन (अपि) भी (अपातकी) पातक रहित (पतिः) पति (लोकेप्सुभिः) लोकों की इच्छा करनेवाली (स्त्रीभिः) स्त्रियों करके (न) नहीं (हातव्यः) छोड़ना चाहिये ॥ २५ ॥

भाषार्थ—अपना पति दुष्ट स्वभाववाला भाग्यहीन बुड्ढा जड़ रोगी निर्धन भी हो, किन्तु अपातकी हो तो इस लोक तथा परलोक की इच्छा करनेवाली स्त्रियों को ऐसे पति का त्याग नहीं करना चाहिये ॥ २५ ॥

(सुबो०) दुष्टं शीलं यस्य । द्यूतादिदुर्व्यसनवान् । दुर्भगो दरिद्रः । वृद्धः इन्द्रियविकलः । जडो मूर्खः । रोगी महारोगग्रस्तः । अधनो वा । अधनोऽपि भाग्यवांश्चेत्, तदा संभावनया स्त्रीभिर्न त्यज्यते । एवं षडदोषयुक्तोऽपि स्त्रीभिरनन्यगतिकाभिः पतिर्न हातव्यः । स्पष्ट एव विरोधः। षड्गुणो भगवान्, षड्दोषः स इति । पातकी तु हातव्य एव । 'भजेदपतितं पतिमिति' वाक्यात् । किञ्च, तत्रापि लोकेप्सुभिः । येषमिह लोके परलोके च कीर्त्याद्यपेक्षा तैर्न हातव्य एव, अन्यथा अपकीर्तिर्भवेत ॥ २५ ॥

भगवान् कहते हैं कि गोपियो ! पति दुष्टशील, जूआ आदि व्यसनयुक्त दुर्भग–दरिद्री, वृद्ध-इन्द्रियविकल, जड़-मूर्ख, रोगी–महारोगग्रस्त अथवा अधन-निर्धन-गरीब हो, किन्तु वही कभी कालान्तर में भाग्यवान् भी हो सकता है, इसी आशा से स्त्रियों को अपना पति नहीं त्यागना चाहिये ।

इस प्रकार दुःशील से लेकर अधनपर्यन्त छः दूषणवाले पतियों का निरूपण किया है, इससे क्रम से यश, ऐश्वर्य, वीर्य, ज्ञान, वैराग्य और श्री, इनसे विरुद्ध धर्मवाले पतियों को कहा है । अर्थात् दुष्टशील यश से विरुद्ध है, जुआ आदि खेलनेवाले का लोक में अपयश होता है । इसी प्रकार दुर्भग ऐश्वर्य विरुद्ध है, वृद्ध-वीर्य विरुद्ध है, जड़ ज्ञान विरुद्ध है, रोगी नैरोग्य विरुद्ध है । अधन श्रीविरुद्ध है । इसी आशय से भगवान् कहते हैं कि इस प्रकार छँ दोषयुक्त भी अपना पति, जिन स्त्रियों को अन्य गति नहीं है, इसलिये अनन्य गतिवाली स्त्रियों को पति छोड़ना नहीं चाहिये ।

लौकिक पतियों में छँ दोष हैं, और अलौकिक पति भगवान् में छँ गुण हैं, इसलिये दोनों में विरोध स्पष्ट ही है, पातकी पति का तो त्याग ही करना चाहिये (भजेदपतितं पतिः) इस प्रकार भाग० ७।११।२८ में कहा है ।

स्थिति पक्ष में तो स्वतः छँ दुष्ट धर्मवाला धर्मी पति दुष्ट है, यहां पातक का सम्बन्ध कहने से ज्ञात होता है कि कदाचित् उसका त्याग करने से नित्य सेवा के अयोग्य भी बतलाया है ।

उसमें भी जो लोक की इच्छा करनेवाली स्त्रियां हैं उनको तो अपने-अपने पतियों की सेवा करनी चाहिये, कारण कि जिनको इस लोक और परलोक में कीर्ति आदि की अपेक्षा रहती है, उनको अपना पति नहीं छोड़ना चाहिये । यदि वे अपने पतियों का त्याग करती हैं तो लोक में अपकीर्ति हो जायेगी । इस प्रकार भगवान् ने सात्विक राजसी गोपियों से कहा है ॥ २५ ॥

(सुबो०) ननु कामरसे निविष्टमनसां न धर्मो वाधकः, परस्मिन्नेव रसोत्पत्तिरिति तत्राह अस्वर्ग्यमिति ।

यदि सात्त्विक तामसी गोपियां भगवान् से कहें कि कामरस में जिनका मन लग रहा है उनको धर्म बाधक नहीं है कारण कि रस शास्त्र में कहा है कि दूसरे ही में रसोत्पत्ति होती है। इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं।

अस्वर्ग्यमयशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम।
जुगुप्सितं च सर्वत्र ह्यौपपत्यं कुलस्त्रियः॥ २६ ॥

पदपदार्थ—(हे कुलस्त्रियः !) हे कुलीन स्त्रियो ! (हि) जिस कारण से (औपपत्यं) जार पति से सम्बन्ध करना—उसकी सेवा करना (अस्वर्ग्यं) स्वर्ग लोक नाश करनेवाला (अयशस्यं) अपकीर्ति करनेवाला (च) और (फल्गु) अल्प सुखवाला (कृच्छ्रं) कष्टसाध्य (भयावहम्) भय उत्पन्न करनेवाला (च) और सर्वत्र इस लोक तथा परलोक में (जुगुप्सितं) निन्दित है ॥ २६ ॥

भाषार्थ—हे अच्छे कुल वाली स्त्रियो ! उपपति—जार पति की सेवा स्वर्गनाश करने वाली, लोक में अपकीर्ति करनेवाली अल्प सुखवाली कष्टसाध्य भय उत्पन्न करनेवाली और इस लोक तथा परलोक में निन्दित है ॥ २६ ॥

(सुबो०) हे कुलस्त्रियः, औपपत्यं जारसम्बन्धः तद्रसालमपि बहुदोषग्रस्तम्। तत्रत्यान् दोषानाह। अस्वर्ग्यं परलोकनाशकम्। पूर्वं धर्मेण सिद्धोऽपि स्वर्गः तस्मिन् अपगच्छति किञ्च, इह लोकेऽपि यशो दूरीकरोति। चकारात् नरकोऽपि। नापि तत्र रसभोगो महानित्याह फल्ग्विति। अल्पमेव तत्सुखं क्षणमात्रसाध्यम्, स्वरूपतो महदपि कालतः परिच्छिन्नमपि। कृच्छ्रमिति। कष्टसाध्यम्, नाल्पेन प्रयासेन सिध्यति। अतो बलवदनिष्टानुबन्धि। किञ्च, अनुभवकालेऽपि न रसमुत्पादयति। यतो भयजनकम्। शृङ्गारविरोधी भयानकरसः। अत एव व्यभिचारशब्दवाच्यः। मुख्यतया भयानकरसमुत्पादयेत् विशेषतः प्रथमतः। किञ्च, सर्वत्रैव जुगुप्सितम्। सर्वदेशेषु सर्वकालेषु तत्कृत्वा यदि सत्कर्मापि कुर्यात्, ततोऽपि जुगुप्सितो भवेत्। [1]धर्मबुद्धिस्तत्र विचिकित्सैव भवति। अतो बहुदोषग्रस्तत्वात् उत्तमायानैतद्युक्तम् ॥ २६ ॥

हे कुलीन स्त्रियो ! जार सम्बन्ध यद्यपि रसाल है, तथापि बहुत दोषों से भरा हुआ है, अब जार सम्बन्ध के दोषों को कहते हैं, इसमें छः दोष हैं।

(१) 'अस्वर्ग्यं' अपने पति से सम्बन्ध (सेवा करना) स्वर्गलोक की प्राप्ति करानेवाला है, और जार पति से सम्बन्ध करना परलोक का नाश करनेवाला है। पूर्व धर्म से सिद्ध भी स्वर्ग जार सम्बन्ध से नष्ट हो जाता है।

(२) 'अयशस्यं च' इस लोक में भी जार सम्बन्ध यश नाश करता है, और अपने पति का सम्बन्ध यशकारक है। चकार का अर्थ यह है कि केवल यश का ही नाश नहीं करता है, किन्तु जार सम्बन्ध नरक को भी प्राप्त कराता है, तथा जार सम्बन्ध में रस भोग भी महान् नहीं है, इस बात को शुकदेव जी कहते हैं कि (३) 'फल्गु' जार सम्बन्ध में सुख अल्प ही है, कारण कि जार सम्बन्ध से सुखमात्र साध्य है, और स्वरूप से महान भी है, किन्तु काल परिच्छिन्न है। अर्थात् अमुक काल तक ही होता है।

(४) 'कृच्छ्र' जार सम्बन्ध कष्टसाध्य है, अर्थात् जार सम्बन्ध में स्त्री पुरुषों को बहुत परिश्रम करना पड़ता है, थोड़े परिश्रम से सिद्ध नहीं होता है और परिणाम में अनिष्ट भी हो जाता है। कभी-कभी दोनों का मरण भी हो जाता है।

(५) 'भयावहम्' कामरस के अनुभव काल में भी रसोत्पन्न नहीं होता है, कारण कि अनुभव काल में स्त्री पुरुष दोनों को भय उत्पन्न करता है, भयानक रस शृङ्गार रस का विरोधी है, इसीलिये व्यभिचार शब्द वाच्य है, अर्थात् जारकर्म करनेवाले को व्यभिचारी कहते हैं। जारसम्बन्ध तो विशेषकर प्रथम ही से मुख्यतया भयानक रस उत्पन्न करता है।

(६) 'जुगुप्सितं' जार कर्म सर्वत्र ही निन्दित है, मनुष्य सर्व देशों में तथा सर्व काल में जारकर्म करके यदि सत्कर्म भी करे, तो भी लोक में उसकी निन्दा ही होती है।

कितने ही लोग कहते हैं कि एक ब्रह्मचारी की किसी सती-पतिव्रता स्त्री के साथ कामभोग भोगने की इच्छा हुई, भोग करने में यदि साध्वी स्त्री के लिये सुख हुआ तो उसका पातिव्रत धर्म गया, और यदि भोग में सुख नहीं हुआ तो उसकी धर्म में स्थिति है, इस प्रकार जारसम्बन्ध में भी धर्म है।

किन्तु यहां पर धर्मबुद्धि संशयात्मक ही होती है, इसलिये मुख्य सिद्धान्त नहीं है। अतः जारसम्बन्ध अनेक दोषग्रस्त है, इसलिये उत्तम कुलवाली स्त्रियों को जार से सम्बन्ध करना योग्य नहीं है।

इस प्रकार जार सम्बन्ध में दोष निरूपण करने से, तथा सहजपति भगवान् को निर्दोष निरूपण करने से स्थिति पक्ष स्पष्ट ही है।

अथवा इस श्लोक में उत्तम कुल के सम्बन्ध से अभिमानवाली गोपियों से भगवान् ने पति आदि की सेवा करने के लिये लौटकर घर जाने के लिये कहा है। किन्तु यहां तो उत्तम कुल का अभिमान ही नहीं है, इसलिये स्थिति पक्ष स्पष्ट ही है, इस प्रकार भगवान् ने सात्त्विक तामसी गोपियों से कहा है ॥ २६ ॥

(सुबो०) एवं सगुणाः प्रबोध्य गुणातीताः प्रबोधयति श्रवणादिति।

इस प्रकार सगुण भाववाली नौ प्रकार की गोपियों को उपदेश करके अब भगवान् गुणातीत गोपियों को प्रबोध करते हैं।

श्रवणाद् दर्शनाद्ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्तनात्।
न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान्॥ २७॥

पदपदार्थ—(यथा) जिस प्रकार से (श्रवणात्) श्रवण करने से (दर्शनात्) दर्शन करने से (ध्यानात्) ध्यान करने से (अनुकीर्तनात्) कीर्तन करने से (मयि) मुझमें (भावः) भाव होता है (तथा) उस प्रकार से (सन्निकर्षेण) समीप में रहने से (न) नहीं होता है। (ततः) इस हेतु से (गृहान्) अपने-अपने घर को (प्रतियात) लौटकर पधारो ॥ २७ ॥

भाषार्थ—भगवान् कहते हैं कि जिस प्रकार का श्रवण, दर्शन, ध्यान और कीर्तन करने से मुझमें भाव होता है, उस प्रकार का मेरे समीप रहने से नहीं होता है, अतः आप सब लौट कर अपने-अपने घर पधारो ॥ २७ ॥

---

[1] ब्रह्मचारिणः साध्वीं प्रति कामभोगबुद्धिर्जाता। तत्र भोगे साध्व्याः सुखञ्चेज्जातम्, पातिव्रतं गतम् नो चेत् धर्म एव स्थितः।

(सुबो०) ननु लौकिकदृष्टावेते दोषाः, न तु भक्तिमार्गे परमार्थदृष्टौ वा, भवांस्तु पुरुषोत्तम इति चेत्, तत्राह श्रवणादिति । न हि भक्तिमार्गे सम्बन्ध एव कर्तव्य इति शास्त्रमस्ति । भक्तिर्हि नवविधा श्रवणादिरूपा । प्रेमरूपा च । स्वतन्त्रपक्षे तु सुतरामेव नापेक्षा । स्नेहस्तु भगवद्विषयकः अलौकिकः । स एव सर्वाधिको भवति । लौकिकस्तु कामशेषतां प्राप्तः हीन एव भवति । तस्यालौकिकस्य कारणानि त्रीणि । श्रवणं दर्शनं ध्यानमिति । आदौ श्रवणं, भगवद्वाचकानां पदवाक्यानां भगवति शक्तितात्पर्यावधारणम् । तथा सति विषयो व्यावर्तितो भवति, अन्यथा अन्यत्रापि स्नेहः स्यात् । तदनु दर्शनं, तदर्थस्यानुभवः । कृपया भगवत्साक्षात्कारो वा भगवत्कामार्थः नारदादेरिव । ततो ध्यानं, योगेन चिन्तनम् । एतैरेव मयि भावो भवति । स चोत्पन्नो भावः अनुकीर्तनात् स्थिरो भवति । यथायमुपायः शास्त्रीयः साधीयान्, न तथा निरन्तरसान्निध्येन जातो लौकिकः । स हि कामशेष इत्यवोचाम । अतो गृहान् प्रतियात । अतः परमार्थविचारेऽपि न स्थातव्यमिति । तथेत्यत्र प्रकार एव निषिद्धः, न स्वरूपतो महत्त्वं निषिद्धम् । गृहस्थितानां च विहितं भवतीति गृहगमनमाज्ञापितम् ॥ २७ ॥

यदि गोपियां कहती हैं कि ऊपर श्लोक में कहे गये दोष लौकिक दृष्टि से जार सम्बन्ध में हो सकते हैं, किन्तु भक्ति मार्ग में अथवा परमार्थ दृष्टि से नहीं हैं, कारण कि सर्व पुरुष जीव हैं, और आप तो पुरुषोत्तम हो।

इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि 'श्रवणात्' श्रवण अथवा दर्शन से जैसा भाव मुझमें होता है, वैसा समीप में नहीं होता है।

भक्तिमार्ग में भगवान् के साथ सम्बन्ध–समागम ही करना चाहिये, इस बात को शास्त्र कहता नहीं है, किन्तु भक्ति तो श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य, और आत्मनिवेदन, इस प्रकार नौ प्रकार की है, और दशमी प्रेमरूपा है, दस प्रकार की भक्ति में सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं है, सख्यादि में तथा वन्दनादि में इस प्रकार के सम्बन्ध की अपेक्षा है, अथवा श्रवण आदि शक्ति का संकोच है। किन्तु स्वतन्त्र भक्ति पक्ष में तो थोड़े भी सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं है, कारण कि स्वतन्त्र भक्ति–स्नेहरूप भक्ति में फल की परिसमाप्ति है, अर्थात् स्नेहरूप भक्ति फलरूप है, साधनरूप नहीं है, इसी बात को कहते हैं कि 'स्नेहस्तु भगवद्विषयकः अलौकिकः'।

स्नेह तो भगवद्विषयक अलौकिक है, स्वतन्त्र भक्तिमार्ग में तो भगवान् में ही स्नेह हो सकता है, इसलिये अलौकिक है।

यही भगवद्विषयक अलौलिक स्नेह सबसे अधिक होता है, लौकिक स्नेह तो काम के अधीन होता है, इसलिये लौकिक स्नेह में सम्बन्ध की अपेक्षा रहने से हीन ही है।

भगवद्विषयक अलौकिक स्नेह में श्रवण, दर्शन और ध्यान तीन कारण हैं, प्रथम कारण श्रवण है, इसका लक्षण इस प्रकार है कि भगवद्वाचक—भगवान् को कहनेवाले पद तथा वाक्यों की शक्ति का तात्पर्य भगवान् में है, इस प्रकार निर्णय करके सुनने का नाम श्रवण है।

जिस समय पद वाक्यों की शक्ति का तात्पर्य भगवान् में है, इस प्रकार निश्चय हो जाता है, उस समय विषय-संसार निवृत्त हो जाता है, अर्थात् संसार की वस्तु मात्र से राग निवृत्त हो जाता है, अन्यथा–और प्रकार से संसार विषय निवृत्त विना अन्यत्र–स्त्री पुत्रादिकों में भी स्नेह हो जाये, अतः पहिला कारण स्नेह में श्रवण है।

दूसरा कारण दर्शन है, दर्शन का लक्षण इस प्रकार है कि श्रवण किए हुए के अर्थ का अनुभव–मानसपरोक्षानुभव, अथवा निदिध्यासन का नाम दर्शन है।

मानसपरोक्षानुभव, और निदिध्यासन को दशन शब्द से कहा नहीं है, इसलिये पक्षान्तर कहते हैं 'कृपया भगवत्साक्षात्कारो वा' कृपा द्वारा भगवत्साक्षात्कार को दर्शन कहते हैं, भगवद्विषयक काम उत्पन्न करने के लिए भगवद्दत्त साक्षात्कार दर्शन शब्द वाच्य है। इसी को दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जिस प्रकार भगवान् ने कृपा करके नारदजी को अपने स्वरूप का दर्शन कराया और अपने में स्नेह उत्पन्न कराया।

'सकृद्यद्दर्शितं रूप मे तत्कामाय तेऽनघ' इस प्रकार भागवत प्रथम स्कन्ध में कहा है। उसी प्रकार भगवद्विषयक काम–स्नेह उत्पन्न करने के लिए भगवान् कृपा करके अपने स्वरूप का साक्षात्कार कराते हैं, उसको दर्शन कहते हैं।

तीसरा कारण ध्यान है। ध्यान–योग द्वारा भगवान् का चिन्तन करने को कहते हैं। इस प्रकार उक्त तीन ही श्रवण, दर्शन, ध्यान द्वारा मुझमें भाव होता है, मेरे साथ सम्बन्ध से नहीं होता है।

वह उत्पन्न हुआ भाव-स्नेह अनुकीर्तन से स्थिर होता है। भक्तिमार्ग में जैसा यह शास्त्रीय उपाय-साधन बतलाया है, वैसा निरन्तर भगवान् के समीप रहने से उत्पन्न लौकिक भाव–स्नेह बतलाया नहीं है।

भगवान् कहते हैं गोपियो! लौकिकभाव-स्नेह ठीक नहीं है, भगवान् के पास रहने से उत्पन्न लौकिक स्नेह कामोपाधि–काममूलक है। इस बात को मैं प्रथम कह चुका हूं, अतः आप सब ही अपने-अपने घर पधारो। परमार्थ विचार से भी तुमको यहां रहना नहीं चाहिये।

अब स्थिति पक्ष में तो मूल श्लोक में 'तथा' शब्द कहा है। तथा शब्द प्रकार वाचक है, इसलिये यहां लौकिक प्रकार ही निषिद्ध है, किन्तु स्वरूप से स्नेह का महत्त्व निषिद्ध नहीं है।

भगवान् कहते हैं गोपियो! जो भक्त घर में रहते हैं, वे भी पूर्वोक्त विहित श्रवणादि भक्ति कर सकते हैं, अतः भगवान् ने गोपियों को घर जाने की आज्ञा की है।

प्रकाशकार कहते हैं कि प्रकारवाची 'तथा' शब्द इस प्रकार कहता है कि विहित प्रकार प्रकारान्तर से प्राप्त है, और सन्निकर्ष प्रकार पूर्व प्रकार से विलक्षण है, तो दोनों प्रकारों की तुलना करने पर कौन सा श्रेष्ठ है।

इसके उत्तर में कहते हैं कि घर में रहने वाले भक्त तो विहित श्रवणादि भक्ति ही कर सकते हैं, किन्तु स्वतन्त्र भक्ति तो भगवान् के पास रहनेवाले भक्त ही कर सकते हैं। इसलिये स्वतन्त्र भक्ति का प्रकार उत्तम है॥ २७॥

(सुबो०) एवं तासां गृहगमने बोधिते तत्परित्यागानन्तरं पुनर्ग्रहणं वान्ताशनमिव मन्यमानाः, भगवद्वाक्यं चानुल्लंघ्यमिति विचार्य, अतिविरोधे

उभयानुरोधिशरीरपरित्यागः कर्तव्य इति निश्चित्य, तत्रापि भगवत्सम्बन्धानन्दाभावादिति कर्तव्यता मूढा जाता इत्याह इति विप्रियमिति ।

इस प्रकार गोपियों को भगवान् ने घर जाने की आज्ञा की, उस समय गोपियां विचार करने लग गयीं कि घर का त्याग करके फिर घर का परिग्रह करना भोजन के अनन्तर वमन-उलटी करके पश्चात् उसी पदार्थ का भक्षण करने के तुल्य है ।

और भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करना भी उचित नहीं है, दोनों बात परस्पर अति विरुद्ध है, इसलिये दोनों विरुद्ध बातों का अनुरोधी अनुसरण करनेवाला शरीर है, अतः शरीर का त्याग करना ही उचित है, इस प्रकार गोपियों ने निश्चय किया किन्तु गोपियां पुनः विचार करती हैं कि शरीर त्याग करने पर भगवत्सम्बन्ध से जो आनन्द प्राप्त होता है वह नहीं होगा, अब ऐसी दशा में हमको क्या करना चाहिये, इस प्रकार गोपियां कर्तव्य में मूढ हो गईं, इसी बात को आगे श्रीशुकदेव जी कहते हैं ।

श्रीशुक उवाच—

इति विप्रियमाकर्ण्य गोप्यो गोविन्दभाषितम् ।
विषण्णा भग्नसंकल्पाश्चिन्तामापुर्दुरत्ययाम् ॥ २८ ॥

पदपदार्थ—(गोप्यः) गोपियां (विप्रियं) विगतप्रिय-अप्रिय (गोविन्द-भाषितम्) गोविन्द के वाक्य को (आकर्ण्य) श्रवण करके (इति) भगवान् इस प्रकार घर जाने की आज्ञा देते हैं, यह निश्चय करके (विषण्णाः) खिन्न–दुःखी हुईं । (भग्नसंकल्पाः) भग्न हुए संकल्प जिनके इस प्रकार की गोपियां (दुरत्ययाम्) जिसका पार नहीं, अपार (चिन्ताम्) चिन्ता को (आपुः) प्राप्त हो गईं, अर्थात् अपार चिन्ता समुद्र में मग्न हो गईं ॥ २८ ॥

भावार्थ—श्रीशुकदेव जी कहते हैं कि गोपियां इस प्रकार का अप्रिय-कठोर गोविन्द का वाक्य श्रवण करके खिन्न हो गईं, और उनका संकल्प भग्न हो गया, उस समय अपार चिन्ता-ग्रस्त हो गईं ॥ २८ ॥

(सुबो०) विगतं प्रियं यस्मादिति, उभयथापि प्रियाभावः । किं परीक्षार्थमाह, आहोस्विदभिप्रेत एवायमर्थं इति । आसमन्तात् श्रुत्वा, वाक्यतात्पर्यं निर्धार्य, सत्यं गमनमेव वदतीति निश्चित्य, अनभिप्रेतत्वेऽपि तत्प्रसवहेतुमलभमानाः, गोप्यो नैपुण्यरहिताः, गोविन्दस्य स्वामिनः देवभाषितत्वेन अनृतशङ्कारहितमीश्वरवाक्याच्च निर्धाररहितमाकर्ण्य, विषण्णा जाताः, मनसि परमं विषादं प्राप्ताः । तत्र हेतुर्भग्नसंकल्पा इति । तदा परां चिन्तां प्रापुः कथमस्मद्विचारितं भगवद्वाक्यं चैकमुखं भवतीति सा चिन्ता त्रैलोक्यं व्याप्य वेदं जन्मजन्मान्तराणि च निर्द्धारमलभमाना दुरत्यया पर्यवसानरहिता जाता ॥

विगत प्रिय जिससे, वहविप्रिय, गोपियां कहती हैं कि भगवान् ने इस प्रकार का भाषण किया है कि शब्द तथा अर्थ दोनों प्रकार से अप्रिय है, अच्छा नहीं है । तो क्या भगवान् ने अप्रियवाक्य हमारी परीक्षा लेने के लिये लौटकर घर जाने को कहा है, अथवा ठीक-ठीक हृदय के भाव से कहा है ।

इस प्रकार गोपियां सन्देह से पुनः भगवान् के वाक्यों का तात्पर्य निर्धार करके कहती हैं कि सत्य है, भगवान् गृहगमन की ही आज्ञा करते हैं, इस प्रकार गोपियों ने निश्चय किया ।

यदि भगवान् की इच्छा यही है कि गोपियां घर नहीं जायें, तो फिर गृहगमन की आज्ञा भगवान् क्यों कर रहे हैं, इसका कारण गोपियां जान नहीं सकीं, गोपियां भगवान् की इच्छा क्या है, इस बात को नहीं जान सकीं । कारण कि 'गोप्यः' गोपों की स्त्रियां निपुणतारहित हैं, इनमें चतुराई नहीं है, गोविन्द–अपने स्वामी का भाषण–देवभाषित होने के कारण असत्य भाषण की शङ्कारहित हैं, गोपियों को विश्वास है कि देव कभी असत्य भाषण नहीं करते हैं, और ईश्वरवाक्य का निर्धार भी नहीं हो सकता है, अतः इस प्रकार का गोविन्द भगवान् का भाषण श्रवण करके गोपियां खिन्न और दुःखी हो गईं, उनका मन परम विषादयुक्त हो गया ।

अब शुकदेव जी विषादयुक्त होने का कारण बतलाते हैं कि 'भग्नसंकल्पाः' गोपियों ने जो मन में संकल्प किया था वह भग्न हो गया, इससे दुःखी हो गईं, और पराचिन्ता को प्राप्त हो गईं, कि हमारे विचार और भगवान् के वाक्य दोनों की एकमुखता–एक तात्पर्यता किस प्रकार हो, इस प्रकार चिन्ता करने लग गयीं, गोपियों की चिन्ता तीनों लोकों में व्याप्त होकर तथा इस जन्म और जन्मान्तर में व्याप्त होकर किसी प्रकार का निर्धार निर्णय नहीं कर सकी, इसलिये 'दुरत्यया' अन्तरहित हो गई ॥ २८ ॥

(सुबो०) ततः चिन्तया यज्जातं तदाह कृत्वेति ।

इसके अनन्तर चिन्ता से जो कुछ हुआ, उसको आगे श्लोक में कहते हैं ।

कृत्वा मुखान्यव शुचः श्वसनेन
शुष्यद्बिम्बाधराणि चरणेन भुवं लिखन्त्यः ।
अस्रैरुपात्तमषिभिः कुचकुंकुमानि
तस्थुर्मृजन्त्य उरुदुःखभराः स्म तूष्णीम् ॥ २९ ॥

पदपदार्थ—(मुखानि) मुखों को (अवकृत्वा) नीचे करके (शुचः) शोकसम्बन्धी (श्वसनेन) श्वासवायु से (शुष्यद्-बिम्बाधराणि) सूख गये हैं बिम्ब फल सदृश अधर = ओष्ठ जिनके इस प्रकार की गोपियां (चरणेन) चरण से (भुवं) पृथिवी को (लिखन्त्यः) लिखतीं (उपात्तमषिभिः) कज्जल संयुक्त (अस्रैः) आंसुओं से (कुचकुंकुमानि) कुचों की केसर को (मृजन्त्यः) मार्जन करतीं (उरुदुःखभराः) बहुत दुःख के भारवाली गोपियां (तूष्णीम्) चुपचाप–मौन होकर (तस्थुः स्म) खम्भ की तरह स्थित–खड़ी हो गईं ॥ २९ ॥

भावार्थ—गोपियों ने चिन्ता से अपने मुख नीचे करके और शोक सम्बन्धी वायु से गोपियों के बिम्ब फल सदृश लाल-लाल ओष्ठ सूख गये, तथा चरण से पृथिवी को लिखने लग गईं, और कज्जल युक्त आंसुओं से कुचों पर लगी हुई केसर धुल गई, तथा अत्यन्त दुःख के भार से मौन धारण करके खड़ी हो गईं ॥ २९ ॥

(सुबो०) चिन्तया प्रथमं मूर्च्छिता जाताः । ततः मुखान्यव अवाङ्मुखानि कृत्वा, कमपि स्वमुखं न प्रदर्शयिष्याम इति अवाङ्मुखानि कृतवत्यः । अवगताः

शुचः याभिस्ताः, शोकसम्बन्धिन्यो वा जाताः । शुचः श्वसनेन शोकसम्बन्धिना श्वासवायुना शुष्यन्ति बिम्बवदधराणि येषाम् । तादृशानि मुखानि कृत्वा, चरणेन च भुवं लिखन्त्यः, तथैवावस्था भवतीति । भूमिविवरमिव प्रार्थयन्त्यः, उपात्तमषिभिः अस्रैः कुचकुङ्कुमानि भृजन्त्यः, तूष्णीं तस्थुः । मुखस्य अवाक्त्वेन भक्तितिरोभावः । श्वसनेन प्राणपीडा, शोकेनान्तःकरणस्य, बिम्बाधरशोषेण कामरसस्य, पदा भूमिलेखनेन शरीरस्य, अस्रैरिन्द्रियाणाम्, कुङ्कुमाभावेन कान्तेः, दुःखभरेण आनन्दस्य, तूष्णीं स्थित्या चैतन्यस्य तिरोभावो निरूपितः । केवलं स्थाणुवत् स्थिताः ॥ २९ ॥

सर्वं गोपियां चिन्ता से प्रथम मूर्च्छित हो गईं, जब कुछ स्वस्थ-सी हुईं तब मुख नीचे कर लिये, इस आशय से कि अब हम अपना मुख किसी को नहीं दिखायेंगी, अतः गोपियां नीचे मुख करती हुईं । और प्राप्त हुआ है शोक जिनके द्वारा, अथवा शोक सम्बन्धिनी हुईं, शोक के श्वसन से अर्थात् शोक सम्बन्धी श्वास वायु से सूख रहे हैं बिम्बफल सदृश लाल ओष्ठ जिनके इस प्रकार की गोपियां नीचे मुख करके चरणों से भूमि को लिखने लग गईं, विशेष चिन्ता में स्त्रियों की इस प्रकार की अवस्था हो जाती है, मानो भूमि से प्रार्थना कर रही हैं कि तुम फट जाओ, और हम सब बिल में प्रविष्ट हो जायें ।

इस प्रकार कज्जलयुक्त आंसुओं से कुचों पर लगी केसर का मार्जन करती बहुत दुःख के भारयुक्त गोपियाँ मौन धारण कर—चुपचाप स्थित हो गईं ।

मुख नीचा करने से गोपियों का तिरोभाव हो गया, श्वासवायु से प्राणों को पीड़ा हुई, और शोक से अन्तःकरण को पीड़ा हुई, बिम्ब सदृश अधर के शोषण से कामरस की पीड़ा और चरण से पृथिवी लिखने से शरीर को पीडा हुई । आंसुओं से इन्द्रियों को पीडा, कुचों की केसर धुलने से कान्ति—सौन्दर्य को पीडा, और दुःखभार से आनन्द को पीडा, तथा मौन धारण करने की स्थिति से चैतन्य की पीडा का निरूपण किया है । इस प्रकार केवल स्थाणु—खम्भ की तरह गोपियां खड़ी हो गईं ॥ २९ ॥

(सुबो०) एवमपि स्थितौ तूष्णीं स्थितं भगवन्तमालक्ष्य किञ्चिद् विज्ञापयामासुरित्याह—प्रेष्ठमिति ।

गोपियों ने जब इस प्रकार की दशा में भी तूष्णीं—चुपचाप भगवान् को देखा, तब कुछ विज्ञापन करती हुईं, इस बात को शुकदेव जी कहते हैं—

प्रेष्ठं प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं
कृष्णं तदर्थ-विनिवर्तित-सर्वकामाः ।
नेत्रे विमृज्य रुदितोपहते स्म किञ्चित्
संरम्भ-गद्गदगिरोऽब्रुवतानुरक्ताः ॥ ३० ॥

पदपदार्थ—(प्रेष्ठं) अत्यन्त प्रिय (प्रियेतरमिव) प्रिय से इतर की तरह (प्रतिभाषमाणं) हमारे प्रति कह रहा (कृष्णं) कृष्ण को, देखकर (तदर्थविनिवर्तितसर्वकामाः) श्रीकृष्ण के लिये त्याग कर दिये सर्वकाम जिनने इस प्रकार की गोपियां (रुदितोपहते) रुदन करने से सूज गये, रक्त हो गये (नेत्रे) नेत्रों को (विमृज्य) धो-पोंछकर (किञ्चित्) कुछ (संरम्भगद्गदगिरः) क्रोध से गद्गद वाणी वाली (अनुरक्ताः) कृष्णानुरागवाली गोपियां (अब्रुवत) बोलती हुईं ॥ ३० ॥

भाषार्थ—श्रीकृष्ण से सम्बन्ध करने के लिये सर्व कामों का त्याग करनेवाली, तथा कृष्ण में अनुरागवाली गोपियां रुदन करने से सूज गये, और लाल हो गये नेत्रों को धो-पोंछकर प्रिय से इतर की तरह विपरीत आज्ञा करनेवाले अत्यन्त प्रिय कृष्ण—सदानन्द के प्रति कुछ क्रोध से गद्गदवाणी जिसमें वर्णों का स्फुट उच्चारण नहीं हो बोलने लगीं ॥ ३० ॥

(सुबो०) भाषणं पूर्वोक्तमेव । अथवा तस्यामत्यवस्थायां किमिति रोदनं क्रियते, स्वस्था भवत, गृहे गच्छतेत्येव वदति, परं हसन्मुखः, तदा तासां हृदये वाक्यामृतानि प्रविष्टानि सजातीयानि वाक्यान्युत्पादितवन्ति, तदा भगवदुद्बोधिता एव ताः भगवद्वाक्यानि पूर्वपक्षयितुमारेभिर इत्याह—प्रेष्ठमिति । प्रेष्ठो भवत्येव । स्वसामग्र्या तथा सम्पादितत्वात्, परं वदत्यन्यथा, तथाप्यप्रियमिव प्रतिभाषमाणमिति नोक्तम् । न हि कदाचिदपि भगवानप्रियवद्भवति, किन्तु प्रियो भवति, [1]इतरोऽपि भवति, सर्वभवनसामर्थ्यात् । इतरत्वेन प्रियत्वं बाध्यते । यथा जगज्जगदतिरिक्तरूपश्च । तदाह—प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणमिति । यः प्रियोंऽशः, तं न तिरोधारयति । किन्तु वाक्यं न तेन[2] रूपेण वदति, किन्तु रूपान्तरेण, तदा तेन सह वादः कर्तुं शक्य इति । न हि फलं कचित्साधनं भवति, मां वृणुतेति वा वदति, परं बलादपि प्रतिबन्धनिराकरणं कृत्वा स ग्राह्य एव । तदाह—कृष्णं सदानन्दमिति । ननु कोऽयं निर्बन्धः, स एव काम्य इति, महाँश्चेन्न मन्यते, तदा अल्पतरा अपि काम्या इति, तत्राह—तदर्थविनिवर्तितसर्वकामा इति । तदर्थं भगवदर्थं विशेषेण निवर्तिताः सर्वे कामा याभिः । अयमेव काम्य इति निश्चित्य पूर्वमेव सर्वे कामास्त्यक्ताः । 'काममयश्चायं पुरुषः' । यदि त्यक्तोऽपि गृह्येत, तदा भगवदुक्तमेव गृहं कथं न गृह्येत । तस्मादयमेव कामः अवशिष्यते । स चेन्न भवेत्, स्वरूपहानिरेवेति निश्चित्य, फले मानमकृत्वा दृढीभूय, रुदितोपहते नेत्रे विमृज्य, यथास्थानं सर्वं प्रापयित्वा, किञ्चित्संरम्भेण, वादार्थमुद्यमः संरम्भः । भगवान् हि वाक्येन निराकरोति, न तु स्वरूपतः । वाक्यं तु निराकार्यमिति तदर्थं संरम्भः । सर्वोप्यन्तं गत्वा परावर्तते, परं संरम्भेण गद्गदा गीर्यासाम् । वर्णानां न स्फुटनिर्गमनम्, ईश्वरवाक्यनिराकरणे यतो वाणी बिभेति । तासां तु न भयम् ।

---

[1] मर्यादामार्गीयोपि ।

[2] प्रियरूपेण ।

यतः अनुरक्ताः। रागो हि भयप्रतिपक्षः। यत्र रागः स्वल्पोऽपि, न तत्र भयम्। अतः अब्रुवत उक्तवत्यः॥ ३० ॥

प्रथम भगवान् ने जो भाषण किया था, वही भाषण यहां भी समझना चाहिये, अथवा 'शानच्' प्रत्यय प्रतिभाषण में है, और पहिले २८ वें श्लोक में 'क्त' प्रत्यय है, इसलिये यहां पूर्व अर्थ के तुल्य अर्थ नहीं होता है, अतः पक्षान्तर 'अथवा' कहकर कहा है।

पूर्व भाषण से ही उक्त सर्व का तिरोधान कहा है, फिर भी यदि पहिले की तरह भाषण भगवान् करें तो आगे का कार्य सम्पादन नहीं हो सकता है, कारण कि विशेष का अभाव है, अतः पहिले भाषण से यहां विलक्षण भाषण कहना चाहिये, जिससे कि यहां गोपियों में जीवन्मुक्ति का सामर्थ्य हुआ है।

पहिला भगवान् का भाषण उदासीनतापूर्वक था, अब पूर्व भाषण का विरोधी हास्य सहित भाषण के अभिप्राय से यदि वाक्य में विलक्षणता नहीं हो तो जीवन्मुक्ति का सामर्थ्य गोपियों में नहीं हो, अतः यहां भगवान् का वाक्य पूर्ववाक्य से 'तस्यामप्यवस्थायां' इत्यादि से गोपियों ने विलक्षण ही निरूपण किया है। इसी से मूल में 'प्रतिभाषमाणं' कहा है।

अब 'अथवा' से पक्षान्तर कहते हैं कि 'तस्यामप्यवस्थायां' गोपियों की इस प्रकार की अवस्था देखकर भी भगवान् हँसते-हँसते कहते हैं कि तुम सब रुदन क्यों करती हो। स्वस्थ हो जाओ और घर जाओ।

जिस समय भगवान् हँस रहे थे, उस समय गोपियों के हृदय में भगवान् के वाक्यामृत प्रविष्ट हो गये। और वे वाक्य सजातीय—जिस प्रकार भगवान् ने कहे थे, उस प्रकार के ही वाक्यों को पूर्वपक्ष करके समाधान करनेवाले एक विषयक वाक्य उत्पन्न करते हुए, उस समय भगवान् की प्रेरणा से ही गोपियों ने भगवद्वाक्यों को पूर्वपक्ष करने का प्रारम्भ कर दिया, इसी को कहते हैं कि 'प्रेष्ठं'।

भगवान् प्रेष्ठ—प्रियतम ही हैं कारण कि श्रुतियों ने जिस समय भगवान् की स्तुति की है, उस समय भगवान् को श्रेष्ठ प्रियतम प्रतिपादन किया है, 'चिरं स्तुत्या ततस्तुष्टः परोक्ष प्राह तान् गिरा' इस प्रकार यह कथा बृहद्वामन पुराण में प्रसिद्ध है।

अथवा गोपियां कहती हैं कि 'स्वसामग्री' नवीन चन्द्र फूल फल मन आदि सामग्री, सम्पादन करने से भगवान् प्रियतम हैं। इस प्रकार से निश्चय तो होता है, किन्तु, इस समय भगवान् अन्यथा—अप्रियतम की तरह बोल रहे हैं।

श्लोक में अप्रिय की तरह—प्रियविरुद्ध कृष्ण बोल रहे हैं, नहीं कहा है, कारण कि भगवान् कभी भी अप्रिय की तरह होते नहीं हैं, भगवान् तो सदा प्रिय ही होते हैं। और प्रिय से इतर—प्रिय से अन्य, मर्यादामार्गीय भी होते हैं, कारण कि भगवान् में सर्वभवन सामर्थ्य हैं।

प्रिय से इतर होने में प्रियत्व का बाध नहीं होता है। जिस प्रकार भगवान् जगत्-रूप और जगत् से अतिरिक्त रूप हैं, उसी प्रकार प्रियरूप और प्रिय ये इतर— अन्य रूप भी हैं। इसी बात को कहते हैं 'प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणम्' भगवान् प्रिय अंश का तिरोधान नहीं करते हैं, किन्तु वाक्य प्रिय रूप से—फलात्मक पूर्णानन्द स्वरूप से, बोलते नहीं हैं। रूपान्तर धर्मरक्षक अनिरुद्ध रूप से बोलते हैं, इसीलिये इनके साथ वाद करना चाहिये। नीति के अनुसार अत्यन्त प्रिय के साथ वाणी से वाद करना निषिद्ध है, उदासीन में तो दोष ही नहीं होता है, इसलिये प्रियतम भगवान् फलात्मक के साथ तो वाद हो नहीं सकता है, परन्तु अनिरुद्धस्वरूप के साथ तो वाद हो सकता है, इस प्रकार यह गोपियों के पूर्वपक्ष करने में हेतु कहा है।

यदि कहो कि यहां रूपान्तर—अनिरुद्धस्वरूप तो दीखता नहीं है, फिर रूपान्तर से भगवान् कहते हैं, इस प्रकार निश्चय नहीं होने से भगवान् के वाक्यों को पूर्व पक्ष कैसे होगा।

इस प्रकार की आकांक्षा में कहते हैं कि, फलात्मा भगवान् कभी साधन नहीं होता है, अथवा मुझको तुम वरण करो, इस प्रकार भी नहीं कहता है।

'प्रियं किं करवाणि वः' १०।२६। इस श्लोक के उपक्रम में भगवान् ने अपने को साधनत्व कहा है, तथा शेष श्लोकों में प्रतिबन्धक वाक्य कहे हैं, इसलिये रूपान्तर का ज्ञान होता है, और पूर्वोक्त हास एवं मौन धारण करने से फलरूप का अवगम होता है, इसलिये कार्यबल से रूपान्तर का ज्ञान होने से पूर्वपक्ष करना युक्त ही है।

भगवान् के मिलने में जो प्रतिबन्ध होता हो, उसको बल से ही दूर करके फलात्मा भगवान् भक्तों के लिये ग्रहण करने योग्य हैं, इसीलिये शुकदेवजी 'कृष्णं' सदानन्द फलात्मक नाम यहां कहते हैं।

यदि कहो कि गोपियों का इतना आग्रह क्यों है कि भगवान् की ही कामना करती हैं और यदि महान्—कृष्ण गोपियों का इष्ट काम पूरा नही करता है तो फिर अल्पतर-छोटे अन्य से ही गोपियों को कामना पूरी करानी चाहिये।

इस शङ्का का उत्तर देते हैं कि 'तदर्थविनिवर्तितसर्वकामाः'।

तदर्थ—भगवान् के लिये विशेष करके गोपियों ने मुक्ति पर्यन्त सर्वकाम निवृत्त कर दिये हैं, अर्थात् भगवान् के अतिरिक्त अन्य सर्वकाम त्याग दिये हैं। एक भगवान् ही कामना करने के योग्य हैं। इस प्रकार का निश्चय करके गोपियों ने प्रथम से ही सर्वकाम त्याग दिये थे।

यदि कहो कि जब सर्वकाम त्याग दिये तो फिर इस काम को क्यों नहीं छोड़ती हो, इसको भी छोड़ना चाहिये।

इसके उत्तर में बृहदारण्यक शारीर ब्राह्मण की श्रुति कहते हैं, 'काममयश्चायं पुरुषः' यह पुरुष काममय है, इसलिये स्वरूप धर्म को भी छोड़ कर गोपियों ने भगवान् को ग्रहण किया है। यदि भगवान् हमारा अङ्गीकार नहीं करेंगे, और यदि त्याग किया भी घर आदि पदार्थ का पुनः ग्रहण होता हो तो भगवान् के आज्ञानुसार लौटकर घर क्यों नहीं जायेंगी। किन्तु भगवान् के लिये सर्व त्याग करना, भगवान् ने ही तो कहा है, और प्रथम त्याग किये हुए अर्थ का स्वीकार नहीं करना शुक मुनि आदि में प्रसिद्ध ही है। शुक मुनि आदि त्याग करके सर्वत्र परिभ्रमण ही करते हैं, गृह त्याग करके फिर घर नहीं गये।

भगवान् इस समय गृह परिग्रह का उपदेश करते हैं, भगवान् ही तो अपने लिये घर त्याग का उपदेश करते हैं, और भगवान् ही घर अत्याग—घर स्वीकार करने की आज्ञा देते हैं, तो फिर घर जाने में कुछ विशेषता तो है नहीं, इसलिये सर्वत्यागपूर्वक भगवान् का ही ग्रहण क्यों नहीं करें, घर परिग्रह स्वीकार करने में ही ऐसी कौन-सी बात है, भगवान् के लिये तो सर्वकामों का त्याग करके आई हैं, अतः अब यह भगवद्विषयक काम ही अवशेष रहा है। यदि भगवद्विषयक काम भी सिद्ध न होगा तो अपने स्वरूप की हानि ही होगी।

इस प्रकार गोपियां परस्पर निश्चय करके कहती हैं कि फलरूप भगवान् को हमारी तुम्हारी अपेक्षा कहा है, अतः मानरहित गोपियां दृढ होकर रुदन से उपहत—सूजे लाल-लाल

नेत्रों को धो-पोंछ कर, और अपने-अपने स्थान में सर्ववस्तुओं को प्राप्त करके 'किञ्चित् संरम्भ' कुछ क्रोध से बोलीं। बाद के लिये उद्यम को संरम्भ कहते हैं।

भगवान् ने वाक्य से निषेध किया है, स्वरूप से नहीं किया है, इसलिये भगवान् के कहे हुए वाक्यों का निराकरण करने के लिये गोपियों ने संरम्भ किया है, संरम्भ—क्रोध का प्रयोजन बतलाते हैं कि 'सर्वोऽपि'।

सभी लोग उपाय का अन्त करके पीछे लौटते हैं, अर्थात् अपने सामर्थ्य के अनुसार किसी वस्तु की प्राप्ति के लिये उपाय करके पीछे लौटते हैं, अतः गोपियों ने भी अन्तिम उपाय करने के लिये प्रयत्न किया है, और विचार किया है कि भगवान् के निषेध वाक्यों का तात्पर्य—निर्धार-निर्णय करें, पश्चात् जो कुछ होगा, उसको करेंगी। अतः निषेध वाक्यों का निर्णय करने के लिये गोपियों ने संरम्भ किया है, संरम्भ से गोपियों की गद्‌गदवाणी हो गई, 'जिसमें वर्णों का स्पष्ट उच्चारण नहीं हो, उसको गद्‌गद वाणी कहते हैं', कारण कि ईश्वर वाक्यों का निराकरण करने में वाणी डरती है और गोपियों को तो किसी प्रकार का भय ही नहीं है, कारण कि भगवान् में गोपियों का अनुराग है, राग-स्नेह भयनाशक है, जहां पर थोड़ा भी राग होता है, वहां पर भय नहीं होता है, इसलिये गोपियां भगवान् के वाक्यों का निराकरण करती बोलीं॥ ३०॥

सुबोधिनी-कारिका—

वाक्यानां बाधवाक्यानि तावन्ति प्रार्थनाधिकाः।
एकादशविधास्तेन तासां वाचो जयन्ति हि॥

(वाक्यानां) भगवान् के वाक्यों के (बाधवाक्यानि) गोपियों के बाध करने वाले वाक्य (तावन्ति) भगवान् के वाक्यों के समान संख्यावाले दस हैं और (प्रार्थनाधिका) 'व्यक्तं भवान्' यह प्रार्थना-वाक्य अधिक है (तेन) इससे (एकादशविधाः) ग्यारह प्रकार के (तासां) गोपियों के (वाचः) वचन (जयन्ति) जय-उत्कर्ष को प्राप्त होते हैं। (हि) भगवान् रसात्मक है, इसलिये विवाद में गोपियों के वाक्यों का जय युक्त ही है, इस प्रकार 'हि' शब्द का अर्थ है।

श्लोकार्थ यह है कि—भगवान् के दस वाक्यों का खण्डन करनेवाले गोपियों के भी दश-वाक्य और एक प्रार्थनावाक्य, इस प्रकार ग्यारह वाक्य रसात्मक भगवान् से वाद करने में जय प्राप्त करते हैं।

(सुबो०) यद्भगवता प्रथममुक्तं 'स्वागतं वो महाभागा' इति, यद्यपि भगवता वयं स्तुताः तथापि प्रेषणाभिप्रायेण, न तु स्वस्मिन्नागता इति। तथा सति नेयं स्तुतिः किन्त्वतिक्रूरं वचनम्, अनिष्टपर्यवसानात। नन्वशक्ये किं कर्तव्यम्, तत्राह—मैवं विभो इति।

भगवान् ने प्रथम १८ वें श्लोक में गोपियों से कहा था कि 'स्वागतं वो महाभागाः' हे महाभाग्यशालिनियो! तुम्हारा स्वागत है।

यद्यपि इस प्रकार भगवान् ने हमारी स्तुति की है, तथापि हमको घर भेजने के अभिप्राय से की है कि प्रिय भाषण करने से गोपियां घर लौट कर चली जायेंगी।

हमारे पास आई हैं, इस अभिप्राय से हमारी स्तुति नहीं की है तो फिर इस प्रकार से यह हमारी स्तुति ही नहीं है, किन्तु अति क्रूर वचन है, कारण कि इस स्तुति का पर्यवसान—

परिणाम अनिष्ट है। यदि भगवान् कहे कि जो अशक्य बात है, उसको मैं किस प्रकार कर सकता हूं, तब इसके उत्तर में गोपियां आगे श्लोक में कहती हैं।

श्रीगोप्य ऊचुः—

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं
संत्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्।
प्राप्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्
देवो यथादिपुरुषो भजते मुमुक्षून्॥ ३१॥

पदपदार्थ—(हे विभो) हे व्यापक प्रभो (भवान्) आप (एवं) इस प्रकार से (नृशंसं) क्रूर—घातक कठोर (गदितुं) बोलने के लिये (मा) नहीं (अर्हति) योग्य हैं, (सर्वविषयान्) सर्व विषयों को (संत्यज्य) सम्यक् प्रकार त्याग करके (तव) आपके (पादमूलम्) चरणमूल श्रीवृन्दावन को (प्राप्ताः) प्राप्त हुई हैं (हे दुरवग्रह) हे दुष्ट आग्रह करनेवाले (अस्मान्) हम सबको (मा) मत (त्यज) त्यागो (यथा) जिस प्रकार (देवः) देव (आदिपुरुषः) पुरुषोत्तम (मुमुक्षून) मोक्ष की इच्छा करनेवालों को (भजते) भजता है, (तथा) उसी प्रकार (भजस्व) भजो॥ ३१॥

भावार्थ—श्रीगोपियां कहती हैं कि हे व्यापक प्रभो इस प्रकार क्रूर घातक वचन आपको कहना योग्य नहीं है, हम सर्व विषयों का सम्यक् प्रकार से त्याग करके आपके चरणमूल श्रीवृन्दावन में प्राप्त हुई हैं, हे दुराग्रही! हमारा त्याग मत करो किन्तु जिस प्रकार आदि देव पुरुषोत्तम मुमुक्षुओं को भजता है, उसी प्रकार आप हमको भजो॥ ३१॥

(सुबो०) भवान् सर्वमेव कर्तुं समर्थः। समर्थश्चेदन्यथा वदेद्, नृशंसमेव भवति, दयायां विद्यमानायां न वदेदिति। यच्च भगवतोक्तं 'व्रजस्यानामय'मिति, तदस्माकं नोद्देश्यम्, यतः सर्वविषयानेव संत्यज्य तव पादमूलं प्राप्ताः। अनेन त्यक्तार्थपरिग्रहः अनुचितः। नापि जारत्वेन समागतमिति निरूपितम्। एकादशेन्द्रियाणामपि विषयास्त्यक्ताः सवासनाः। तत्र विनिगमकं तव पादमूलं प्राप्ता इति। अन्यथा पादमूलप्राप्तिरेव न स्यात्। यदुक्तं 'व्रतागमनकारण'मिति, तत्राहुः—भजस्वेति। अन्यत् कर्तव्यमिति चेत्, तत्राहुः—हे दुरवग्रहेति। दुष्टोऽयमवग्रहः आग्रहः, यद्भजनं न कर्तव्यम्, अन्यत्कर्तव्यमिति। यथा जीवानाम्। ते हि सर्वं कर्तुं वाञ्छन्ति, न भगवद्भजनम्। यथायमाग्रहो जीवानां दुष्टः, तथात्रापि भवितुमर्हति। 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति तु नास्ति। यदि तदभिप्रायेणैव तथा, तदा मा त्यजास्मान्। अस्माभिर्न त्यज्यत इति। एतच्च भजनं न विषयवत्, किन्तु प्रकारान्तरेणेति विशेषतो वक्तुमशक्ताः दृष्टान्तेनाहुः—देवो यथेति। देवो हि सर्वानेव भजते, अन्यथा शास्त्रं व्यर्थं स्यात्। तत्राप्यादिपुरुषो देवः। पूर्वकाण्डेऽपि भजनं सार्थकम्, सुतराम् उत्तरकाण्डे। आदिपुरुषस्तु

सेव्य एव भवति, देवश्च । न हि देवभजनं व्यभिचारजनकं भवति । पुरुषान्तरभजनऽपि प्रथमभर्ता । विवाहितः अभजनीयो भवति । अनङ्गीकारस्तूचितः, नत्वभजनम् । एतेन स यथा स्वातिरिक्तभजनं न सहते, तन्निवृत्तिपूर्वकमेव स्वभजनं संपाद्य स्वयं भजते, तथा त्वयापि कार्यम् । अतस्तत्र प्रेषणं तवाप्यनुचितमिति ज्ञाप्यते । किञ्च, यथा मुमुक्षून् भजते भगवान् । आत्मीयत्वेन परिगृह्णाति, आत्मतया स्फुरति, स्वानन्दं तेभ्यः प्रयच्छति 'एष ह्येवानन्दयती'ति श्रुतेः । 'स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं ही'ति न्यायेन भगवान् तदर्थमात्मानं प्रकटीकरोतीति, मुमुक्षून् भजत इत्युक्तम् । अन्यथा मुमुक्षव एव भगवन्तं भजन्ते, न तु भगवान्, अतः फलद्वारा भजनम् । यथा तेषां पुनः पूर्वावस्थां न सम्पादयसि सततं स्वस्मिन्नेव स्थापयसि, तथा अस्मदर्थमाविर्भूय स्वानन्देन वयं योजनीया इति एकत्कर्तव्यमित्यर्थः । ([1]एतेन प्रार्थनया सकृदङ्गीकृत्य तूष्णींभावपक्षो निरस्तः । अग्रे गृहगमनाज्ञापनगृहस्थितिसम्पादनादिकं तु रसपोषायैव, न तु गृहार्थमिति ज्ञेयम्) ॥ ३१ ॥

गोपियां कहती हैं कि आप सब ही करने में समर्थ हो, यदि समर्थ होकर भी कोई किसी से अन्यथा बोलता है, तो वह नृशंस घातक क्रूर ही होता है, यदि कहो कि भगवान् एक है और भक्त गोपियां अनेक हैं, फिर एकाकी अनेक भक्तों का कार्य—अर्थ सम्पादन कैसे कर सकता है, अशक्य है, और अशक्य कार्य स्थापन करने के लिये स्तुति भी कैसे हो सकती है ।

तब इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि 'दयायाम' जिस पुरुष के दया नहीं होती है, उसका वाक्य भी क्रूर होता है और जिसके भीतर दया रहती है वह अशक्त भी हो तो भी उसका वाक्य क्रूर नहीं होता है । जिस भगवान् आपने प्रथम विषजलादि से रक्षा करके अपना सामर्थ्य प्रकट दिखाया था, उस आपका इस प्रकार अशक्य कार्य कहना असामर्थ्यसूचक नहीं हो सकता है, किन्तु दयारहितसूचक ही है ।

भगवान् ने पहिले कहा था कि 'व्रजस्यानामयं' व्रज में तो कुशल है, भगवान् का इस प्रकार हमसे कहना सम्भव ही नहीं हो सकता है, कारण कि हम सर्व विषयों का सम्यक् प्रकार से त्याग करके आपके चरणमुल-श्रीवृन्दावन में आई हैं ।

इस प्रकार गोपियों के कहने से सूचित होता है कि छोड़े हुए अर्थ का पुनः स्वीकार करना अनुचित है ।

भगवान् ने कहा था कि 'प्रियं किं करवाणि वः' तुम्हारा प्रिय क्या करूं, यहां भगवान् ने अपने से अन्य प्रिय करना कहा था, और अपने में हमारा सोपाधिक स्नेह सूचन कर जारत्व की शंका की थी ।

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि हम आपको जार मानकर भी नहीं आई हैं, कारण कि वासनासहित एकादश इन्द्रियों के विषय हमने त्याग किये हैं । अतः विषय मात्र का त्याग करने से अब हमारा आपको कुछ भी प्रिय करना शेष नहीं रहा है । आप ही हमारे प्रिय हैं, वही प्रिय करना विद्यमान है ।

---

[1] चिह्नान्तर्गतः प्रभूणां स्वतन्त्रः ।

इस प्रकार गोपियों के कहने से, हमको काम भी प्रिय नहीं है, इस प्रकार कामत्व प्रिय का निषेध सूचन किया है, हम तो आपके चरणमूल में आई हैं, यदि हम आप में जार बुद्धि से आतीं, तथा सर्वत्याग करके नहीं आतीं तो आपके चरणमूल की प्राप्ति ही नहीं होती ।

भगवान् ने कहा था कि 'ब्रूतागमन कारणम्' अपने यहां आने का कारण कहो, इसका उत्तर गोपियां देती हैं कि 'भजस्व' आप हमारा भजन-सेवन करो ।

यदि भगवान् गोपियों से कहते हैं कि मुझे भजन करने से अन्य कर्तव्य है, अर्थात् भजन से अन्य कार्य करना है, तो इसमें गोपियां कहती हैं कि 'हे दुरवग्रह' हे दुराग्रही ! आपको हमारा भजन नहीं करके जो जीवों की तरह अन्य कर्तव्य करना है, वह आपका दुरवग्रह-दुष्ट आग्रह-हठ है ।

जीव अन्य सर्व कार्य करने की इच्छा करता है, किन्तु भगवद्भजन करने की इच्छा नहीं करता है, जिस प्रकार जीवों का यह आग्रह-हठ दुष्ट है, उसी प्रकार यहां आपका आग्रह भी दुष्ट होने के योग्य है, कारण कि गीता में आपने ही कहा है कि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' जो मेरा जिस प्रकार भजन करते हैं, मैं उनका उसी प्रकार भजन करता हूं, यह प्रतिज्ञा आपकी भङ्ग हो जायगी, अतः प्रथम प्रतिज्ञा करके पश्चात् नहीं करना दुराग्रह ही है ।

यदि भगवान् कहे कि प्रतिज्ञा में तो 'यथा तथा' शब्द प्रकार वाची हैं, एक-सा प्रकार कहा है, जिस प्रकार तुम सब आई हो, उसी प्रकार मुझको भी आना चाहिये था, इसलिये प्रतिज्ञा पूरी करने के लिये इस समय भजन नहीं करना ही उचित है ।

इसका उत्तर गोपियां देती हैं कि (यदि) जो इस अभिप्राय से हमारा भजन आप नहीं करते हो तो हमारा यह कहना है कि आप हमारा त्याग मत करो, कारण कि हम आपका त्याग नहीं करती हैं, आप भी मत करो ।

यदि भगवान् कहते हैं कि गोपियो, जब तुमने विषय मात्र का त्याग कर दिया है, तो फिर भजन प्रकार का भी अभाव आ गया, फिर भजन किस प्रकार हो सकता है, और तुम भजन की प्रार्थना करती हो, वह किसके लिये करतो हो । इसका उत्तर गोपियां देती हैं 'एतच्च भजनं न विषयवत्' ।

आप हमारा जो प्रार्थित भजन करोगे वह और हमारा किया भजन, दोनों ही में विषय बुद्धि से भोगरूपता नहीं है, किन्तु सर्वात्मभाव प्रकार की है, इसका विशेष वर्णन हम नहीं कर सकती हैं, इस सर्वात्मभाव भूमास्वरूप का निरूपण छान्दोग्य श्रुति में व्यवस्थापित है, इसलिये विशेष वर्णन नहीं कर सकती हैं, यहां दृष्टान्त से बतलाती हैं 'देवो यथा' ।

स्वतन्त्र लेख में कहा है कि जिस प्रकार विषय भोग में कामिनी स्त्री का भोग करके उपपति-जारपति त्याग करता है, उसी प्रकार भगवान् भी कहते हैं कि मैं भी जारपति की तरह भजन करूंगा, किन्तु भगवान् ने इस प्रकार कहा नहीं है, भगवान् ने तो जार प्रकार के भजन का निषेध किया है, और भजन प्रकार की शिक्षा करने के लिये दृष्टान्त दिया है 'देवो यथा' ।

इसका अर्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार देव अपने भजन से अन्य का भजन सहन नहीं करता है, और अन्य भजन निवृत्त कराके अपना भजन संपादन कर भजता है, उसी प्रकार हमारा स्वीकार कर, अन्य पत्यादि का भजन निवृत्त करके अपना भजन सम्पन्न करो ।

अन्य-पत्यादि का भजन अपने आप निवृत्त नहीं होगा । कारण कि आप अन्य भजन में प्रवृत्त करते हो, यह बात उचित नहीं है ।

यदि भगवान् कहें कि मैं भजन करूंगा तो तुम्हारा पातिव्रत्य भङ्ग हो जायगा ।

तब इस शंका का निरास यही है कि स्वामी के भजन करने में कोई प्रकार का दोष नहीं होता है। इस प्रकार यहां 'आदि पुरुष' और 'देव' पद दृष्टान्त से जानना चाहिये।

दूसरे स्वतन्त्र में गोपियां कहती हैं कि हम जिस भजन को करेंगी, और लोक में जिस भजन को प्रकट करेंगी, वह भजन विषय की तरह–विषय सम्बन्धी नहीं है, कारण कि हमारे क्रियमाण भजन में, तथा प्रार्थ्यमान भजन में विषय सम्बन्ध नहीं है, हम तो सर्व विषय त्याग करके आई हैं, और भगवान् भी इन्द्रिय विषय रहित हैं।

किन्तु प्रकारान्तर से–अर्थात् काम प्रकार से अतिरिक्त प्रकार से यह भजन केवल रसरीति से है। इस बात को विशेष रूप से कहने के लिये हम गोपियां अशक्त हैं, और कदाचित् विचार करके कहती हैं तो अपना आधिक्य निरूपण होने से अभिमान का सम्बन्ध सम्भव होता है, अभिमान सर्वात्मभाव में बाधक है।

और यदि गोपियां भगवान् से यह कहती हैं कि आप हमारे आधीन होकर भजन करो, तो इस प्रकार के कथन में नीरसता सम्भव होती है।

इसलिये परम अत्यन्त निपुण रसरीति जाननेवालों में भी उत्तम स्वामिनी, दृष्टान्त द्वारा अपने भजनस्वरूप का निरूपण करती हैं कि 'देवो यथादिपुरुषो भजते मुमुक्षून्'।

देव जिस प्रकार उपासक के आधीन होकर उपासक का अभिलषित अर्थ साधन करता है, उस प्रकार हमारा भजन करो।

उस देव का महत्त्व बतलाती हैं कि जिस प्रकार आदि पुरुष–पुरुषोत्तम अपने चरणों में ज्ञानी को, और भक्तों को अपने स्वरूप में प्रवेश कराकर भजन–स्वानन्द प्रदान करते हैं, उसी प्रकार हमको भी परमानन्द प्रदान करना चाहिये, यह भाव है।

भजन में भी उक्त दोनों दृष्टान्त हैं, जिस प्रकार देव पूज्य लौकिक पति आदि से मुख्य है, देवभजन में व्यभिचार आदि दोष नहीं हैं, सर्वसेव्य है, उसी प्रकार हमारे लिये भी भगवान् जार की तरह नहीं हैं, जिस प्रकार देव अन्य स्त्रियों का सेव्य है, उसी प्रकार आप हमारा भजन करो, कामी पुरुष की तरह केवल काममात्र पूरा मत करो, किन्तु हमको अभिलषित स्वानन्ददान करो, जिस प्रकार आदि पुरुष–पुरुषोत्तम फलरूप है, फल का साधन नहीं है, और निष्काम मनोरथ का विषय है, उसी प्रकार हमको आप हो।

पुरुषोत्तम जिस प्रकार सर्वकाम रहित प्राणियों से ज्ञात होता है, और सेवित होता है, अपने स्वरूपानन्द को देता है, अन्यथा–जो सर्वकामरहित नहीं है, उसको ज्ञात नहीं होता है, और न स्वरूपानन्द का दान देता है, उसी प्रकार सर्वकामरहित हमको भी स्वरूपानन्द का दान देना चाहिये, यह भाव है।

इस प्रकार दोनों दृष्टान्तों के द्वारा गोपियों ने अपना भजन मर्यादा रीति से निर्दोष बतलाया है।

लौकिक पतिव्रताओं को भी देवता के भजन में व्यभिचार दोष नहीं है, कारण कि जो स्त्रियां देवताओं की सेवा करती हैं, उन स्त्रियों का उनके पति त्याग नहीं करते हैं, और न उन स्त्रियों का नरक में पात ही होता है, किन्तु देवताओं की सेवा करनेवाली स्त्रियों का पति आदि द्वारा तथा अन्य लोगों द्वारा विशेष सम्मान ही होता है, फिर हमको किस प्रकार दोष लगेगा, यह भाव है।

आदि पुरुष भी हमारे आप ही हो, कारण कि प्रथम से ही आपने हमको स्वीकार कर लिया है, 'कल्पे सारस्वते प्राप्ते' सारस्वत कल्प आने पर मेरे माथुर मण्डल में तुम्हारा मनोरथ पूरा होगा, इस वाक्यानुसार हमारा पहिले से ही स्वीकार हो गया है, इसलिये कदाचित् हमारे दुःसंग दोष के कारण, अथवा वैदिक धर्म में निष्ठा के कारण आप हमारा अङ्गीकार नहीं करते हो, तो अनङ्गीकार लौकिक कुलटाओं की तरह उचित ही है, किन्तु लौकिक में जिस समय कुलटा पुरुष की सम्पत्ति ले लेती है, उस समय फिर उस पुरुष का भजन–सेवा नहीं करती है। इसी प्रकार हमने भी आपका भजन नहीं किया, कारण कि आपसे प्रथम ही स्वरूपानन्दरूप सम्पत्ति का दान प्राप्त हो गया था।

दूसरी बात यह है कि अभी तक आपकी प्राप्ति नहीं हुई थी, इसलिये अन्य पतियों का भजन बहिरङ्ग धर्म निष्ठा से किया था, अब आपकी प्राप्ति हो गई है, फिर उनका भजन विधान क्या करने योग्य है, अर्थात् नहीं।

अथवा गोपियां कहती हैं कि जार पति का स्वीकार करने पर स्त्री लोकरीति से भी भ्रष्ट हो जाती है, इसलिये हमने उन जार पतियों का परित्याग किया है, आदि पुरुष–पुरुषोत्तम का परित्याग नहीं किया है, जार पुरुष के सङ्ग करने में ही दोष है, अपने वास्तविक पति की सेवा दोषावह नहीं है, किन्तु दोषनिवर्तक ही है, यह भाव है।

यदि आप कहें कि मैं पुरुषोत्तम नहीं हूं इस प्रकार पुरुषोत्तमत्व भी अङ्गीकार नहीं करते हो, तो भी आप हमारे उक्त रीति से आदिपुरुष हो। आदिपुरुष जिस प्रकार इतर भजन सहन नहीं करता है, यदि स्त्री जाती है तो पश्चात् भी उसके ऊपर क्रोध करता है, फिर वहां भेजना तो कैसे बन सकता है, इसी प्रकार आपको भी स्वयं इतर के पास भेजना नहीं चाहिये। हम अन्यत्र भेजने के योग्य नहीं हैं, इस प्रकार गोपियों ने लोकरीति से भी अपने स्वामी भगवान् को बोध किया है, यह भाव है।

इस प्रकार यह सब बात लोकरीति से कही है, वास्तव में तो गोपियां कहती हैं कि हम आगे कहती हैं, उसका श्रवण करो, इसी आशय से दृष्टान्त कहती हैं, 'यथा मुमुक्षून्'।

जिस प्रकार मोक्ष की इच्छा करनेवाले, घर में आसक्ति रहित हेय बुद्धि वाले निर्लेप विरक्त सर्वभोग वर्जित नाममात्र से साधन दशा में स्थित होते हैं, कारण कि भक्तिमार्गीय हैं, और वास्तव में संन्यासी ही होते हैं, उसी प्रकार हम भी हैं। इस प्रकार हमको जानकर आप जिस प्रकार मुमुक्षुओं को अपने करते हो, अर्थात् अपने सेवक करके स्थित करते हो।

'मुक्तोपसृप्य व्यपदेशात्' इस न्याय से फिर उनके हृदय में स्थित आप बाहर पधारते हो, तथा बाहर पधार कर उनके लिये अपना आनन्द प्रदान करते हो, पुनः पूर्व अवस्था सम्पादन नहीं करते हो, और दिये हुए आनन्द का उत्तरोत्तर पोषण करते हो, उसी प्रकार आपको हमारा भी विधान करना चाहिये। इस प्रकार दूसरे स्वतन्त्र लेख का आशय है।

अब आगे सुबोधिनी आदि अन्य साहित्य का आशय कहते हैं, 'देवोयथा' इसका आशय सुबोधिनी में महाप्रभुजी कहते हैं कि—

देव तो सर्व का ही भजन करता है, सर्व को ही फल देता है। यदि इस बात को नहीं मानते हैं तो देवता भजन प्रतिपादक शास्त्र व्यर्थ हो जायगा। देवताओं का भजन फलदान द्वारा जाना जाता है, व्यासजी के मत में देवताओं का विग्रह माना है, कर्म में भी देवताओं को द्वार माना है।

शास्त्र त्याग मन्त्र लिङ्गादिरूप है।

यदि कहो कि अन्य देवताओं का भले ही उक्त प्रकार हो, किन्तु इससे भगवान् को कैसे मान सकते हैं ?

इसके उत्तर में कहते हैं कि 'तत्रापि' 'योदेवानां नामधा एक एव' 'एकं सद्विप्रा बहुधावदन्ति' देवताओं के नाम धारण करनेवाला वह एक ही है, एक को ही ब्राह्मण बहुत प्रकार से कहते हैं। इत्यादि श्रुतियों के अनुसार देवताओं में भी आदि पुरुष देव आप ही हो, इसी को आगे कहते हैं कि—

'पूर्वकाण्डेऽपि' वेद के दो काण्ड हैं—(१) प्रथम कर्मकाण्ड, (२) उत्तर ज्ञान तथा भक्तिकाण्ड। पूर्वकाण्ड में भी भगवान् का किया भजन सार्थक है. कर्मकाण्ड द्वारा भजन करते वालों को भगवान् फल दान करके भी भजन करते हैं, और उत्तरकाण्ड में तो भगवान् को आत्मा प्रतिपादन किया है, इसलिये प्रतिभजन करना आवश्यक ही है। अतः ज्ञानमार्ग तथा भक्तिमार्ग में भगवान् फलदान करते ही हैं, इसलिये वेद के उत्तरकाण्ड में भजन करना और भी निरन्तर सार्थक है।

यदि भगवान् कहें कि गोपियो ! तुमने जो कहा है, यह सब बात निरुपधि–उपाधिरहित भजन करने में होती है, किन्तु तुम्हारा भजन तो सोपाधि–उपाधि सहित है। इस बात को मैंने 'प्रियं किं करवाणिवः' यहां प्रथम कहा है, अब इस प्रकृत भजन में क्या विशेषता है, उसको कहो।

इस शंका के उत्तर में गोपियां सर्वत्यागपूर्वक भगवद्भजन में निरुपधि प्रपत्ति की व्यवस्था कहती हैं कि 'आदिपुरुषस्तु'।

आदि पुरुष तो सेवा करने योग्य ही होता है, आदिपुरुष से विषय की इच्छा नहीं की जाती है। इस प्रकार कहने से क्षुद्र काम देनेवाले देवताओं की सेवा करने का निषेध गोपियों ने सूचन किया है।

देव तो सेव्य ही होता है, 'अकामः सर्वकामो वा' इस भागवतद्वितीय स्कन्ध के वाक्यानुसार निष्काम हो अथवा सकाम हो, अथवा मोक्ष काम हो, तीव्र भक्तियोग से परपुरुष–पुरुषोत्तम का भजन करे।

'सोश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा' इत्यादि तैत्तिरीय श्रुति के अनुसार भक्त भगवान् के साथ रमण करता है, इस प्रकार कहा है, अतः भगवान् को देव कहते हैं। 'दिक्रीडा' इस धातु से निष्पन्न देव शब्द का अर्थ रमण आदि होता है। इससे निरुपधि प्रपत्ति–शरण में भी भजन–सेवा कारणरूप सिद्ध ही है, अतः 'ये यथा' इस प्रतिज्ञावाक्य में जिस प्रकार यथा तथा प्रकार-वाचक पद हैं, उसी प्रकार प्रपत्ति–और भजनवाचक भी हैं। इसीलिये जिस प्रकार की भक्त की प्रपत्ति–शरण होती है, उसी प्रकार का भगवान् भजन करते हैं। अर्थात् निरुपधि प्रपत्ति में सेवा कारणरूप भजन, और उपाधि सहित प्रपत्ति में जिस उपाधि–फल की कामना से प्रपत्ति की है उसका फलदानरूप भजन मैं करता हूं, इस प्रकार यह फलित अर्थ होता है। इसीलिये गोपियां प्रार्थना करती हैं। इस प्रार्थना में लोक न्याय से भी विरुद्धता नहीं होती है। इस बात को आगे गोपियां कहती हैं कि 'न हि देवभजनं व्यभिचारजनकं भवति'।

देव भजन पुरुषान्तर होते हुए भी व्यभिचारजनक नहीं होता है, अर्थात् देवसेवा करने से स्त्री-पुरुष व्यभिचारी नहीं कहलाता है. कारण कि देव सेवा में विषय सम्बन्ध नहीं है। भगवान् तो देवदेव हैं, फिर भगवान् के भजन करने से व्यभिचार कैसे हो सकता है, नहीं होता है, कारण कि आप भगवान् सर्व के पति हैं, पुरुषान्तर के भजन पक्ष में भी आप आदि पुरुष हैं, इसलिये प्रथम भर्ता हो, विवाहित तो द्वितीय भर्ता आधुनिक हैं, अतः वे भजन करने योग्य नहीं हैं, अभजनीय हैं।

अथवा परपुरुष का भजन करने में भी विवाहित पति का भजन तो करना ही चाहिये, यहां परपुरुष स्थानीय गोप हैं, गोपों का भजन करने में भी विवाहित पति स्थानीय भगवान् का भजन तो करना ही चाहिये। इस प्रकार फलितार्थ मूल के आदि पुरुष पद से कहा है।

आदि पुरुष प्रथम भर्ता है. इसलिये लौकिक पति का स्वीकार नहीं करना उचित ही है। जिस समय अन्य पति में रागोत्पत्ति हो जाती है, उस समय विवाहित पति में राग नहीं होना उचित ही है। किसी दोष के कारण राग का अभाव हो जाय तो भी भजनाभाव नहीं है।

अथवा द्वितीय पति का अङ्गीकार नहीं करना उचित ही है, सर्व का स्वाभाविक पति भगवान् का भजन करना उचित ही है, उसका भजन छोड़ना योग्य नहीं है।

योजनाकार कहते हैं कि जार पति का स्वीकार करने पर वह जार पति, पति के समान ही हो जाता है, किन्तु जिस प्रकार प्रथम पति वेदविधि द्वारा होता है, उस प्रकार जार पति वेदविधि द्वारा नहीं होता है। जिस स्त्री ने जिस जार पति का स्वीकार किया है, वह स्त्री उस जार पति का त्याग करे तो उचित ही है, प्रथम पति में तो वेदविधिवश से स्वामित्व प्राप्त है, अतः वेदकृत सम्बन्ध होने से उसको दूर नहीं कर सकते हैं, प्रथम पति का भजन सदा करना चाहिये, इसी बात को श्रीमहाप्रभु जी कहते हैं कि 'नत्वभजनम्' विवाहित पति का भजन करना उचित है, भजन नहीं करना उचित नहीं है।

प्रकृत विषय में भगवान् विवाहित पति स्थानीय हैं, कारण कि आदि पुरुष हैं, इसलिये प्राणीमात्र के पति हैं और गोप देह सम्बन्धी हैं, नित्य पति नहीं हैं। अतः गोपों का स्वीकार नहीं करके नित्य पति भगवान् का भजन करना युक्त ही है।

गोपियों ने उक्त दृष्टान्त से सर्वत्यागपूर्वक भगवद्भजन करने में युक्ति भी कह दी है, इसी का बोध कराने के लिये आचार्यों ने 'नत्वभजनम्' कहा है, नहीं तो मूल में प्रभुकर्तृक भजन में दृष्टान्त कहते तो विरोध हो जाता, इस प्रकार जानना चाहिये।

'देवो यथादिपुरुषो भजते' यहां इस दृष्टान्त के देने से, जिस प्रकार प्रथम पति अपने से अन्य पति का भजन सहन नहीं करता है, तथा अन्य पुरुष का भजन दूर करके अपना (प्रथम पति का) भजन करा कर स्वयं भजन करता है, उसी प्रकार आप–भगवान् को करना चाहिये, अतः घर लौटकर जाने की आज्ञा आपकी अनुचित है, इस प्रकार गोपियों ने भाव सूचित किया है। जिस प्रकार से भगवान् मुमुक्षुओं को भजते हैं, और ये मुमुक्षु आत्मीय हैं–हमारे हैं, इस प्रकार स्वीकार करते हैं, उस समय भगवान् आत्मरूप से स्फुरित होते हैं, और अपना आनन्द प्रदान करते हैं, श्रुति कहती है कि 'एष ह्येवानन्दयाति' यही आनन्द देता है।

यदि कहो कि 'भज' धातु सेवा अर्थ में है, जब कि भगवान् आत्मीयता से परिग्रह करते हैं, तो फिर भजनत्व कैसे हो सकता है। और 'एष ह्येव' 'को ह्येवान्यात्' 'कः प्राण्यात्' 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' इत्यादि श्रुतियां जीवनरूप कार्य को लेकर कही गई हैं, फिर मुमुक्षु के विषय में कैसे होंगी ?

इस शंका के उत्तर में न्याय कहते हैं 'स्वाप्ययसम्पत्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि' यह न्याय चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ पाद में है। 'स्वाप्यय' सुषुप्ति, और सम्पत्ति–पुष्टिमार्गीय मोक्ष, इन दोनों अवस्थाओं में से एक अवस्था अपेक्ष है, अर्थात् इन दोनों अवस्थाओं में भगवान् प्रकट होते हैं।

इस न्याय में 'आविष्कृतम्' यह पद भावार्थक क्तान्त है, इसलिये इसका अर्थ इस प्रकार होता है कि सुषुप्ति की अपेक्षा करके उसमें साक्षीरूप भगवान् की सम्पति–ब्रह्मसम्पत्ति मोक्ष है, अथवा ब्रह्म सम्पत्तिदान करने के लिये भगवान् का प्राकट्य होता है।

प्रकृत विषय में भी 'देवो यथा भजते' इस दृष्टान्त से सुषुप्ति के समान अभजन की प्राप्ति और 'आदि पुरुषोयथा' इसके कहने से 'तदनु प्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्' इस श्रुति में कहे प्रकार से जीवान्तर्यामी भाव से प्रविष्ट हुए भगवान् द्वारा भजन करने की प्राप्ति होती है, इस प्रकार उक्त न्याय से मुमुक्षुओं के लिये भगवान् आप प्रकट होते हैं, और मुमुक्षुओं को भजते हैं।

उक्त न्याय का विशेष विवरण भाष्य और उसके प्रकाश आदि में लिखा है विस्तारभय से सारांश लिखा है, विशेष जिज्ञासुओं को वहां देखना चाहिये।

यदि भगवान् मुमुक्षुओं का भजन नहीं करें तो मुमुक्षु भी भगवान् का भजन नहीं करें ? अतः अपना भजन कराने के लिये भगवान् फल देकर भजन करते हैं।

गोपियां कहती हैं कि आप मुमुक्षुओं का फिर संसार में पात नहीं करते हो, निरन्तर अपने स्वरूप में ही स्थापन करते हो। उसी प्रकार हमारे लिये धर्मीस्वरूप प्रकट करके अपने आनन्द का दान करो। अर्थात् इस प्रकार से हमारा भजन करो। बस आपका यही एक कर्तव्य है।

'मुमुक्षु' पद से यह भी सूचन किया है कि हमारी प्रार्थना से हमारा एक बार अङ्गीकार करके मौन धारण कर लो, इस प्रकार के भाव पक्ष का भी निरास किया है।

आगे रास लीला के अनन्तर घर जाने की आज्ञा, तथा घर में स्थिति कराना आदि कार्य तो रस पोषण करने के लिये ही हैं, घर में आसक्ति आदि के लिये नहीं हैं, इस प्रकार समझना चाहिये। भगवान् के प्रथमवचन श्रवण करने के अनन्तर गोपियों का चित्त व्यग्र हो गया था इसलिये आगे वाक्यों का उत्तर क्रम से नहीं दिया है ॥ ३१ ॥

यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम् ।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ॥ ३२ ॥

पदपदार्थ—(हे अङ्ग) (यत्) जो (पत्यपत्यसुहृदाम्) पति, पुत्र तथा सुहृदों की (अनुवृत्तिः) सेवा (स्त्रीणां) स्त्रियों का (स्वधर्मः) अपना धर्म है। (इति धर्मविदा) यह बात धर्म के जाननेवाले (त्वया) आपने (उक्तम्) कही है (एतत्) यह धर्म (उपदेशपदे) उपदेश के आश्रय (ईशे) ईश्वर-स्वामी (त्वयि) आप में (एव) ही (अस्तु) हो (भवान्) आप (तनुभृतां) देहधारियों के (श्रेष्ठः) प्रियतम (बन्धुः) सगे सम्बन्धी (आत्मा) आत्मा हो धारण करनेवाले हो (किल) यह प्रसिद्ध है ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—हे अङ्ग जो धर्म जाननेवाले आपने कहा है कि पति पुत्र सुहृदों की सेवा करना स्त्रियों का स्वधर्म है, यह हमारा धर्म उपदेश के आश्रयरूप आप ईश्वर में ही हो, कारण कि यह प्रसिद्ध है कि आप देहधारियों के प्रियतम बन्धु आत्मा सर्वरूप हो ॥ ३२ ॥

(सुबो०) यदपि भगवतोक्तं 'स्त्रीणां स्वधर्मपरित्यागोऽनुचित' इति, अतः 'एषा रजनी घोररूपा, नेह स्त्रीभिः स्थेय' मिति। तत्राप्योहुः—यत्पत्यपत्येति। पतिरपत्यानि सुहृदश्च। एषा मनुवृत्तिः स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वया उक्तम्। बहिर्मुखा हि धर्मशास्त्रज्ञाः, शरीरमेव धर्मं स्वधर्ममाहुः। नत्वात्मधर्मं भगवद्धर्मं वा। यतस्ते अनात्मविदः। तथा धर्मविदैव त्वया, नत्वस्मान् विचार्य, आत्मानं वा, त्वयोक्तम्। तस्याप्यस्माभिर्विषयनिर्धारः क्रियते, न तु दूष्यते। तदाहुः—अस्त्वेवमेतदिति। स्त्रीभिः स्वधर्मः कर्तव्य इति यदुक्तम्, तदेवमेवास्तु। न हि पत्यादयः धर्मस्वरूपम्, नाप्याधारः, किन्तु निमित्तम्। स च धर्मः अनुष्ठीयमानः प्रमीयमाणश्च भवति। अनुष्ठीयमाने पुत्रादयो, निमित्तम्। प्रमीयमाणे गुरुः। अतः सा अनुवृत्तिः प्रथमतो गुरावस्तु, अन्यथा स्वधर्मो ज्ञात एव न स्यात्। न च भगद्वाक्यमनुवादकम्। पूर्वमस्माकं धर्मज्ञानाभावात्। अन्यथा तदेव क्रियेत। नापि सेवाव्यतिरेकेणायं धर्मः स्फुरति। अन्यथा वचनमात्रेणैव गतं स्यात्। अत उपदिष्टस्य सिद्धयर्थं सेवां कारय। उपदेशस्य पदमाश्रयः कर्तैव भवति। अङ्गेति कोमलसम्बोधनात नास्माभिः प्रतिकूलतया निरूप्यते। किञ्च, स्वधर्मा अनेकविधाः, स्वापेक्षयोत्कृष्टविषयाः, समानविषयाः, हीनविषयाश्च। तत्र पूर्वपूर्वधर्मप्राबल्यम्। यथा स्त्रीणां पतिपुत्रादीनां स्वसमानानां सेवा धर्मः। एवं स्वनियामकस्येश्वरस्यापि अनुवृत्तिर्मुख्यो धर्मः। अन्यथा तत्प्रेरणाभावे पतिसेवादौ न प्रवर्तेत। अतः प्रकृतेऽपि भवानीश्वरः अन्तर्यामी। तादृशोऽपि भूत्वा पतिपुत्राद्यर्थं न प्रवर्तयसे, किन्तु स्वसेवार्थमेव प्रेरयसि, अतो वाक्योक्तधर्मसिद्धयर्थमपि भवानादौ सेव्यः। किञ्च, धर्मो धर्मिमूलः, तदविरोधेन कर्तव्यः, फलार्थं च कर्तव्यः, अन्यथा चेद्, अनिष्टेऽपि पुरुषं प्रवर्तयन् अनाप्तः स्यात्। अत एव धर्मशास्त्रप्रियत्वात् शरीरस्य तदनुरोध उक्तः। 'द्रव्यसंस्कारविरोधे द्रव्यं बलीय' इति न्यायाच्च। तत्कस्यचित् प्रियो देहः, कस्यचिदात्मा, कस्यचित् परमात्मा, कस्यचिन्निर्वाहकः। भवाँस्तु सर्वरूपो भवति, यतः अत्यन्तम् प्रेष्ठः परमप्रेमास्पदमानन्दः। बन्धुर्देहनिर्वाहकश्च। किञ्च, न केवलमस्माकम, किन्तु तनुभृतां सर्वेषामेव देहधारिणाम्। ('भवाय' नाशाये' त्यत्र त्वया दत्तमेव शरीरं त्वद्विचारितप्रयोजनार्थं जीवो गृहीत्वा तिष्ठतीति निरूपितम्। अतः स देहः भगवदीयः भगवतैव स्थापितः, तस्मै निवेद्य तदनुपयोगे जाते, पश्चादन्यस्मै देयः। चेतनो हि प्रेयः। अतः यावद्भगवदुपयोगं ज्ञास्यति, तावन्नान्यस्मै दास्यति बोधितोऽपि।) यतस्तनुभृतां त्वमेव प्रेष्ठः। श्रेष्ठाय च देयं प्रियं वस्तु। अत्रार्थे किलेति प्रसिद्धिरेव प्रमाणम्। किञ्च, न केवलं देहदाता, किन्तु बन्धुरपि, येन प्रयत्नेन शरीरं बिभर्ति स बन्धुः, आत्मा

---

१. चित्तान्तर्गतं प्रभूणां स्यादिति।

धारकश्च । अतः अन्तरङ्गबहिरङ्गन्यायेन नित्यानित्यन्यायेन वा भ(ग)वत्सेवैव मुख्या । यदा पुनस्त्वदनुपयोगः, तत्रापि चेत्तथा प्रेरणम्, तदान्यस्मै दास्यामो नान्यथेति । धर्मिविचारो धर्मादप्यधिकः ।

एतच्च त्वदनङ्गीकृतं सर्वमेव विरुद्धं भवतीति प्रार्थ्यते अस्त्वति । सर्वं रूपत्वान् त्वमेव सेव्य इति वा । अन्यत्र सर्वसेवा प्राप्ता, अंशतो बाधिता स्यान्, विनिगमकाभात् । अनेन स धर्मोऽपि न भवति, यः कालादिना बाध्यते, अशक्यश्च भवति । न हि प्रमाणं विरुद्धं विधत्ते । अतः पत्यादिसेवाविधायकं च शास्त्रं त्वत्सेवामेव विधत्ते । अतः अनुवादपक्षे स्वतन्त्रविधानपक्षे वा भगवत्सेवैवोचितेति भावः ॥ ३२ ॥

भगवान् ने श्लोक १९ तथा २४ में गोपियों से कहा है कि स्त्रियों को स्वधर्म-त्याग करना उचित नहीं है, 'यह रात्रि घोररूप है, यहां स्त्रियों को रहना नहीं चाहिये । घर जाकर पति-पुत्र आदि की सेवा करो ।'

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि 'यत्पत्यपत्य' इत्यादि पति-पुत्र तथा सुहृदों की सेवा करना स्त्रियों का स्वधर्म है, इस प्रकार धर्म जाननेवाले आपने कहा है, इसमें हमारा यह कहना है कि धर्मशास्त्र जाननेवाले बहिर्मुख हैं, कारण कि धर्मशास्त्र जाननेवाले शारीरधर्म को ही स्वधर्म कहते हैं, आत्मधर्म, भगवद्धर्म को स्वधर्म नहीं कहते हैं, इसका कारण यह है कि धर्मशास्त्र जाननेवाले आत्मवेत्ता नहीं होते हैं, इसलिये शारीरधर्म को जान करके ही आपने भी कहा है ।

हम शारीरधर्म तथा आत्मधर्म सम्बन्धिनी नहीं हैं, हम तो स्वरूप-सम्बन्धिनी हैं, इस प्रकार आपने हमारे स्वरूप का विचार नहीं करके और पुरुषोत्तम—आपका प्राकट्य भजन सम्पादन करने के लिये ही हुआ है, अतः आपने अपने स्वरूप का भी विचार नहीं करके शारीरधर्म की दृष्टि से कहा है ।

नारदादि महर्षियों ने भगवद्धर्म, और याज्ञवल्क्य आदि ने आत्मधर्म अपने-अपने शास्त्रों में कहा है ।

जिस समय देह विशिष्ट को कर्ता मानते हैं, उस समय ही शारीरधर्म को स्वधर्म कहते हैं, अन्य समय नहीं कहते हैं, नहीं तो 'अयं हि परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्' इत्यादि वाक्यों में धर्म को परम नहीं कहते, इसलिये धर्म का बोधन जिस प्रकार वहां पर जघन्याधिकार विषय है, उसी प्रकार यहां भी जघन्य—हीनाधिकार शारीरधर्म है ।

यदि कहो कि शारीरधर्म अध्ययन विधि की तरह प्रथमाधिकार का अनुसरण करके कहा है, बहिर्मुखता से नहीं कहा है ।

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि आपने जो कहा है, उस विषय का भी हम निर्णय करती हैं । किन्तु दूषण नहीं देती हैं, 'अस्त्वेवमेतत्' आपने कहा है कि स्त्रियों को अपना धर्म पालन करना चाहिये, वह धर्म पालन उसी प्रकार हो, अर्थात् उस धर्मपालन करने की व्यवस्था इस प्रकार है—

पति पुत्र आदि धर्मस्वरूप नहीं हैं, और धर्म के आधार—आश्रय भी नहीं हैं, किन्तु केवल धर्म के ही निमित्त हैं, धर्म दो प्रकार का है—(१) एक अनुष्ठान करने योग्य (२) दूसरा

जानने योग्य, अनुष्ठान करने योग्य जो धर्म है, उसमें पति पुत्रादि निमित्त हैं, और जो प्रमीयमाण—जानने योग्य धर्म है, उसमें गुरु—आचार्य निमित्त है, अतः स्त्रियों का धर्म कह कर भगवान् ने जिस धर्म का उपदेश किया है, वह सेवाधर्म प्रथम गुरु में होना चाहिये, अन्यथा—यदि इस बात को नहीं मानते हैं तो प्रथम गुरु की सेवा नहीं की जाय तो अपना धर्म क्या है, इस प्रकार ज्ञान ही नहीं होगा ।

यदि भगवान् कहें कि गोपियो ! मैं गुरु नहीं हूं, किन्तु तुमने जो प्रथम पत्यादि की सेवा की है, उसका अनुवाद कर रहा हूं। पत्यादि-सेवा का गुरु की तरह उपदेश नहीं कर रहा हूं ।

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि भगवान् का वाक्य अनुवाद करनेवाला गौण नहीं है, कारण कि भगवान् ने जब से धर्मोपदेश किया है, इससे पहिले हमको धर्म का ज्ञान नहीं था, उपदेश के अनन्तर ही हमको धर्म का ज्ञान हुआ है अर्थात् गोपियां पहिले जो अपने पति आदि की सेवा करती थीं वह अन्य स्त्रियों को देख कर करती थीं, शास्त्रीय धर्म जानकर नहीं करती थीं कारण कि इनको शास्त्रविधि का ज्ञान नहीं था, इसलिये आपका कहा वाक्य प्रमाण है, अनुवाद नहीं है ।

यदि भगवान् पहिले ही इस उपदेश को करते, तो हम यहां न आकर पति-पुत्रादि की सेवा ही करतीं, अतः आपका कहा वाक्य अनुवाद नहीं है, प्रमाण ही है ।

यदि भगवान् कहते हैं कि गोपियो, अब तो तुमको धर्म का ज्ञान हो गया, घर को पधारो और वहां पति-पुत्रादि की सेवा करो ।

इसका उत्तर गोपियां 'नापि' इत्यादि से देती हैं कि गुरु की सेवा विना शास्त्र में कहा हुआ भी धर्म स्फुरित नहीं होता है ।

यदि एकबार श्रवण मात्र से धर्म स्फुरित हो जाय तो गुरुसेवा विधान करनेवाला शास्त्र व्यर्थ ही हो जाय, अतः गुरुसेवा धर्मस्फूर्ति के लिये अवश्य ही करनी चाहिये । अन्यथा—नहीं तो यदि एकबार श्रवण करने से धर्मस्फूर्ति हो जाती होती तो हम आप गुरु की सेवा किये बिना ही आपके वचन से ही घर लौटकर चली जातीं, अतः आपने जिस धर्म का उपदेश किया है, उस धर्म को सिद्ध करने के लिये पहिले हमसे आप अपनी सेवा कराइये, कारण कि उपदेश का पद—आश्रय उपदेष्टा ही होता है, आप उपदेश करें, आपकी सेवा से हमको धर्म स्फुरित होगा ।

हे अङ्ग ! यह सम्बोधन कोमल है, इससे गोपियां यह सूचित करती हैं कि हमने आपके प्रतिकूल कुछ भी नहीं कहा है, इस प्रकार गोपियों ने प्रथमाधिकार गुरुसेवा अङ्गीकार करके धर्मव्यवस्था के विचार से विषय निर्धार किया है ।

अब आगे गोपियां वाक्य के तात्पर्य का विचार करके विषय निर्धार करती हैं 'किञ्च' स्वधर्म अनेक प्रकार के हैं, कितने ही धर्म अपनी अपेक्षा उत्तम विषयवाले होते हैं, और कितने ही धर्म समान विषयवाले होते हैं, और कितने ही धर्म अपनी अपेक्षा हीन विषयवाले होते हैं, इस प्रकार उक्त धर्मों में प्रथम प्रकार का उत्तम, दूसरा मध्यम और तीसरा हीन होता है ।

जिस प्रकार स्त्रियों को पति, पुत्र आदि अपने समान धर्मवालों की सेवा करना धर्म है, उसी प्रकार अपने नियामक—अन्तर्यामी ईश्वर की भी सेवा करना सर्वप्राणीमात्र का मुख्य धर्म है ।

यदि इस बात को नहीं मानें तो ईश्वर की प्रेरणा विना जीव पति पुत्रादि की सेवा में प्रवृत्त कैसे हो सकता है, कारण कि समान धर्मवाले पति-पुत्रादि की सेवा से उत्तम धर्म ईश्वर सेवा है । अतः प्रकृत में भी आप ईश्वर अन्तर्यामी हो, हमारे प्रेरक होते हुए भी हमको आप पति-

पुत्रादि की सेवा करने के लिये प्रेरणा नहीं करते हो, किन्तु आप अपनी सेवा करने के लिये ही प्रेरणा कर रहे हो।

इस प्रकार गोपियों के कहने से सूचित होता है कि आप हमारी सेवा से प्रसन्न होकर पश्चात् पति-पुत्रादि की सेवा के लिये प्रेरणा करोगे, उस समय आपके कहे हुए धर्म की सिद्धि होगी। इस प्रकार हमने अनुभव प्रमाण से निश्चय किया है।

जिस प्रकार वेद में परोक्षवाद से कर्म दूर करने के लिये कर्मों का विधान किया है, उसी प्रकार यहां भी कर्मों का विधान है। कर्मों का जिस प्रकार आपकी सेवा में पर्यवसान है, उसी प्रकार इस धर्म का भी आपकी सेवा में पर्यवसान है, अतः आपने जो पति-पुत्रादि की सेवा करना स्त्रियों का धर्म कहा है, उस धर्म की सिद्धि के लिये भी हमको प्रथम आपकी सेवा करनी ही योग्य है, इस प्रकार गोपियों ने विधितात्पर्य विचार से विषय निर्धार किया है।

अब इसके आगे गोपियां विध्यर्थक अनुष्ठान अधिकार का विचार करके विषय निर्धार करती हैं।

गोपियां भगवान् से कहती हैं कि आप धर्म के मूल हो, इसलिये आपकी सेवा करनी चाहिये, इसी को आगे कहती हैं 'किञ्च' धर्म और धर्मी देही धर्म करनेवाले के आधार पर रहता है, इसलिये धर्मी कर्मी के स्वरूप के साथ जिस प्रकार विरोध नहीं हो, उस प्रकार धर्म करता चाहिये, और फल के लिये धर्म करना चाहिये, अर्थात् धर्मानुसार कर्ता को फल भी भोगना चाहिये, अन्यथा–जो इस प्रकार नहीं माने और धर्मी के साथ विरोध करके, तथा फल मिले बिना धर्म करे तो अनिष्ट—निष्फल धर्म में भी पुरुष की प्रवृत्ति करानेवाली वेदविधि अनाप्त हो जाये, अर्थात् वेदविधि में प्रमाणत्व नहीं रहे, फिर वेदविधि में किसी को विश्वास नहीं हो। अतएव धर्मी के साथ विरोध नहीं करने से धर्म शास्त्र में शरीर प्रिय होता है, और इसी से शरीर में आत्मत्व स्वीकार करके शरीर का अनुरोध कहा है। अर्थात् प्रिय धर्मी है, इस प्रकार सिद्ध हुआ, धर्म का धर्मी–देह मूल है, इसमें न्याय कहते हैं कि—

'द्रव्यं संस्कार विरोधे द्रव्यं बलीयः'।

द्रव्य संस्कार के विरोध में द्रव्य बलिष्ठ है, यहां संस्कार धर्म है, और द्रव्य धर्मी है, इन दोनों के विरोध में द्रव्य बलिष्ठ है, इस प्रकार पूर्वमीमांसा में कहा है।

भगवान् कहते हैं कि तो फिर गोपियो देह का ही अनुरोध करना चाहिये, मेरे लिये आप सब इतना क्लेश क्यों पा रही हो?

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि प्रिय के अविरोधपूर्वक शरीर का अनुरोध करना चाहिये, उस प्रिय में फल सम्पादन करने के लिये देह, आत्मा, परमात्मा और निर्वाहक ये चार कर्तव्यसिद्धि में कहे हैं। इसमें किसी को देह प्रिय है, तो किसी को आत्मा प्रिय है, और किसी को परमात्मा प्रिय है, तो किसी को निर्वाहक—निर्वाह करनेवाला प्रिय होता है।

आप तो उक्त सर्व रूप हो, कारण कि अत्यन्त श्रेष्ठ—प्रियतम परम प्रेमास्पद आनन्द हो, अर्थात् देहादि सर्व आप ही हो, परम प्रेमास्पद से देहरूप, आनन्द पद से आत्मरूप कहा है, आनन्द बीजरूप है, इसलिये सर्वात्मरूप हो यह भाव है।

आप ही बन्धु हो और देहनिर्वाहक हो, गोपियों ने बन्धु पद से परमात्मा कहा है, कारण कि अन्तर्यामी जीव का सखा है, चौथा निर्वाहक तो स्पष्ट ही है, इस प्रकार गोपियों ने प्रेष्ठ शब्द से भगवान् को धर्मी सिद्ध किया है, अतः शास्त्र में देह का अनुरोध अपने देह की उपाधि नहीं है, किन्तु प्रिय की उपाधि है, आप ही सर्व प्रकार से प्रिय हो, इसलिये आपका ही अनुरोध

कर्तव्य है, देह का नहीं, आप धर्म के मूल हैं, अतः अनुष्ठान अधिकार विचार से भी आप ही सेव्य हैं।

यदि आप कहो कि भले ही मैं सेव्य हूं, किन्तु देह तो सेव्यमात्र–पति-पुत्रादि की भी साधारण है, इसलिये मेरे ही में एक विनियोग करने के लिये तुम्हारा इतना आग्रह क्यों है?

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि 'किञ्च'। इस प्रकार के स्वरूप का आप केवल हमको ही बोध नहीं करते हो, किन्तु सम्पूर्ण देह धारण करनेवाले मनुष्यों का बोध करते हो, अतः अपने एकमात्र सम्बन्धी की अपेक्षा जो सर्व का सम्बन्धी है, उसको मुख्यता है, इसलिये आप ही सेव्य हैं।

भागवत पञ्चम स्कन्ध अ० १ श्लोक १३ में प्रियव्रत से ब्रह्माजी कहते हैं —

भवाय नाशाय च कर्मकर्तुं शोकाय मोहाय सदाऽभयाय।
सुखाय दुःखाय च देहयोगमव्यक्तदिष्टं जनताङ्ग धत्ते ॥

इस श्लोक में कहा है कि आपका दिया शरीर, आपके विचारित भव आदि प्रयोजन के लिये जीव ग्रहण करके स्थित होता है, अतः यह देह भगवदीय है, भगवान् ने ही दी है, भगवान् के लिये निवेदन करनी चाहिये, भगवान् के लिये निवेदन करने के अनन्तर जब भगवान् के उपयोग में नहीं आयेगी तब पश्चात् अन्य को देने योग्य है, पहिले ही देय नहीं है।

चेतन को ही भगवान् की प्रेरणा सम्भव होती है, अर्थात् चेतन तो प्रियवस्तु प्रेष्ठ के लिये ही देगा, अन्य को नहीं देगा, यह भाव है।

जिस प्रकार प्रियव्रत राजा को राज्य आदि अर्थ में अपने देह के उपयोग करने का ज्ञान नहीं था, तब ब्रह्माजी ने इस प्रकार का ज्ञान राजा को दिया था, उसी प्रकार आप हम अज्ञान से दूसरों के लिये अपनी देह दे रहे हैं, उससे रोककर अपनी सेवा कराने के लिये प्रेरणा करो।

यदि भगवान् कहें कि गोपियो आप सब ठीक ही कह रही हो। मैं ही सर्वजीवों का प्रेरक हूं, तो फिर इस समय प्रियव्रत की तरह तुमको घर भेज कर पति आदि की सेवा करने के लिये प्रेरणा करता हूं, अतः घर जाकर पत्यादि की तुमको सेवा करनी चाहिये।

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि (अतः) इसलिये, जहां तक जीव इस शरीर का भगवान् में उपयोग जानेगा, वहां तक बोध करने पर भी अपना शरीर अन्य के लिये नहीं देगा, कारण कि आप सर्वदेहधारियों के प्रेष्ठ हो–प्रियतम हो, प्रियतम के लिये ही प्रियवस्तु देने योग्य होती है।

और प्रियव्रत को तो देहाभिमान नहीं था, इसलिये उसने ब्रह्मा के उपदेश से भी देहाभिमानरहित होकर ही राज्यादि कार्य किया था, इस बात को वहां पर ही कहा है 'अनवबुध्यमान इव महामना बुभुजे' हृदय में तत्त्व को जानकर, और बाहर से अज्ञान दिखाता, अथवा देहाभिमानी की तरह महामना प्रियव्रत राज्य भोग भोगता हुआ।

गोपियां कहती हैं कि हमको देह प्रिय है, और आप प्रियतम हो, इसलिये प्रियवस्तु प्रियतम को देना योग्य ही है। इस प्रकार के अधिकार में यही करना चाहिये, इसमें प्रमाण कहती हैं 'अत्रार्थे किल' यहां इस अर्थ में 'किल' प्रसिद्ध ही प्रमाण है।

प्रेष्ठत्व का वर्णन करने के लिये अन्य पदों का व्याख्यान करते हैं, 'किञ्च'। गोपियां कहती हैं कि आप केवल देहदाता ही नहीं हो, किन्तु बन्धु भी हो। जिस पुरुष के कारण से–अर्थात् जिसके लिये जीव प्रयत्न करके अपने शरीर का पोषण करता है, वह बन्धु और आत्मा हमारे शरीर

को रखनेवाले भी आप ही हो । अतः अन्तरङ्ग-बहिरङ्गन्याय से, अथवा नित्य-अनित्यन्याय से आप भगवान् की सेवा करना ही मुख्य है ।

शरीर का भरण-पोषण करनेवाले तथा धारण करनेवाले भगवान् अन्तरङ्ग और नित्य हैं, और शरीर के साथ सम्बन्ध करनेवाले समग्र पदार्थ बहिरङ्ग हैं, और अनित्य हैं, बहिरङ्ग की अपेक्षा अन्तरङ्ग कार्य प्रथम किया जाता है, इसी प्रकार अनित्य की अपेक्षा नित्य कार्य प्रथम होता है, यह सामान्य न्याय है, अतः अन्य सर्व कार्य बहिरङ्ग और अनित्य की अपेक्षा अन्तरङ्ग और नित्य भगवान् की सेवा करना मुख्य है, इसलिये पुनः जिस समय हमारे देह का उपयोग आप में नहीं होगा, उस समय यदि आपकी प्रेरणा होगी, कि तुम अपना देह अन्य पति आदि के लिये दे दो, तब हम अन्य पति आदि को अपना शरीर दे देंगी, अन्यथा नहीं देंगी ।

धर्मी वस्तु का विचार धर्म वस्तु के गुण से भी अधिक है, कारण कि यदि आप अन्य लोगों के लिये सर्व धर्म आदि को स्वीकार नहीं करें तो सर्व धर्म ही विरुद्ध–विफल हो जाता है, आप जब धर्म को स्वीकार करते हो तभी धर्म सफल होता है, इसीलिये आपकी अस्तु शब्द से हम प्रार्थना करती हैं ।

अथवा आप ही पति आदि सर्वसेवारूप हो, अर्थात् आपकी सेवा करने से सर्व की सेवा हो जाती है, अतः आपकी सेवा सर्वरूप है, इसलिये आप ही सेव्य हैं । कारण कि आपकी सेवा के विना अन्यत्र पति आदि में की गई सेवा एक समय में सर्व की सेवा जो प्राप्त होती हो तो कितने ही अंश में सेवा का बाध हो जाय, कारण कि अमुक की सेवा करनी, अमुक की सेवा नहीं करनी, इसका निर्णय करनेवाला नियामक प्रमाण कोई नहीं है, और जिस धर्म का काल आदि से बाध होता है, और अशक्य होता है, वह धर्म ही नहीं होता है, प्रमाण कभी विरुद्ध धर्म का विधान नहीं करता है, अतः पति आदि की सेवा विधायक शास्त्र, तथा भगवत्सेवा विधान करनेवाला शास्त्र आपकी सेवा का ही विधान करता है ।

पत्यादि की सेवाविधि में भी 'या पतिं हरि भावेन' इत्यादि वाक्य आपकी ही सेवा करना बतला रहे हैं, और राग से प्राप्त हुई अन्य की सेवा करने का तो अनुवाद करते हैं, इसलिये अनुवाद पक्ष में अथवा स्वतन्त्र पक्ष में आपकी सेवा करना ही उचित है, यह भाव है ।

अनुवाद पक्ष तथा स्वतन्त्र पक्ष का स्पष्टीकरण इस प्रकार है, कि शास्त्र भगवान् की सेवा तथा पति आदि की सेवा, दोनों का विधान करता है । फिर भी पति आदि की सेवा कितने ही अंश में बाधित होती है, और पति आदि की सेवा राग होने के कारण अपनी इच्छा से प्राप्त होती है, इसलिये इसका शास्त्र में अनुवाद किया है, अतः भगवान् की ही सेवा करनी चाहिये, इस प्रकार पति आदि की सेवा करने में अनुवाद पक्ष कहा है ।

पति आदि की सेवा करने में स्वतन्त्र पक्ष–पति आदि की सेवा करने का शास्त्र में स्वतन्त्र विधान कहा है, यदि इस प्रकार मानते हैं तो धर्मज्ञान आदि के लिये आपकी गुरुरूप से सेवा प्राप्त होती है ।। ३२ ।।

(सुबो०) एवं राजसीनां निरूप्य सात्त्विकीनां निरूपयति कुर्वन्ति हीति ।

इस प्रकार राजसी गोपियों ने भगवान् से जो कहा, उसका निरूपण करके अब आगे सात्त्विकी गोपियां भगवान् से कहती हैं, उसको श्रीशुकदेवजी कहते हैं ।

कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्
नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम् ।

तन्नः प्रसीद वरदेश्वर मास्म छिन्द्या
आशां धृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र ॥ ३३ ॥

पदपदार्थ—(कुशलाः) चतुर पुरुष (स्व) अपने (आत्मन्) आत्मरूप (नित्यप्रिये) सदाप्रिय (त्वयि) आप में (रतिं) प्रीति को (कुर्वन्ति) करते हैं (हि) जिससे (आर्तिदैः) दुःख देनेवाले (पतिसुतादिभिः) पति पुत्र आदि से (किम्) हमको क्या प्रयोजन है (तत्) इससे (हे वरदेश्वर) हे वर देनेवालों के ईश्वर (नः) हमारे ऊपर (प्रसीद) प्रसन्न हो जाओ (चिरात्) बहुत काल से (त्वयि) आपमें (धृतां) धारण की (आशां) आशा को (हे अरविन्दनेत्र) हे कमल सदृश लोचनवाले (मा) मत (छिन्द्याः स्म) काटो ।। ९३ ।।

भाषार्थ—हे कमलनेत्र, चतुर पुरुष नित्य प्रिय अपने आत्मरूप आप में प्रीति करते हैं, दुःख देनेवाले पति-पुत्रादि में प्रीति करने से हमको क्या प्रयोजन है, अतः हे वर देनेवालों के ईश्वर ! आप हमारे ऊपर प्रसन्न हो जाओ, और जो बहुत काल से हमने आपके विषय में आशा धारण की है उसको मत काटो, पूरण करो ।। ३३ ।।

(सुबो०) यद्यप्युक्तं 'मातरः पितर' इति, 'मा कृढ्वं बन्धुसाध्वस' मिति, तत्किमिदम्प्रथमतयास्माभिरेव क्रियते, आहोस्विदन्येऽपि कुर्वन्ति । तत्रापि किमधमाः मात्राद्यनुवृत्तिं कुर्वन्ति, आहोस्विदुत्तमाः । उत्तमा अपि त्वत्सेवायामशक्ताः, आहोस्वित् शक्ता इति विचारणीयम् । अस्मिन्नर्थे निर्णायकं महतां चरित्रमाहुः । ये त्वात्मनि कुशलाः आत्महितार्थिनः, न तु देहेन्द्रियाणां, ते त्वय्येव रतिं कुर्वन्ति । स्नेहेन हि क्रिया भवति । भगवत्कृतकृतमेव जीवगामि भवतीति । तदुपपादितम् 'तच्चात्मने प्रतिमुखस्ये' त्यत्र । प्रीत्या च सेवा भवति । यदि पुत्रादिसेवापि धर्मः स्यात् , तदा पुरुषार्थत्वेनात्मपर्यवसायिनी स्यात् । 'कुशला' इत्यनेन तेषां कौशलमेतत् , प्रवृत्त्यपेक्षया निवृत्तिरुत्तमा । इन्द्रियदमनसामर्थ्याभाव एव अन्यगामि कर्तव्यम् , 'यतो यतो निवर्तेते' त्यत्र निरूपितम् । निरुद्धानीन्द्रियाण्यात्मगामीनि भवन्ति । तत्राप्यात्मगामीनि तदैव भवन्ति, यदि त्वदर्थमुपयुक्तानि भवन्ति । अतः केवलनिग्रहकर्त्रपेक्षया ये त्वयि रतिं कुर्वन्ति, ते कुशला इति हि शब्दार्थः । त्वयीत्येकवचने च पूर्ववदेकत्र सर्वसंभवो निरूपितः । किञ्च, भवान् स्वात्मा स्वरूपभूतः, नत्वध्यासन्यायेन तथा जातः । किञ्च, प्रियस्य हि सेवा कर्तव्या, स चेत्प्रियः कालपरिच्छेद्यो न भवति, स भवानेव, अन्यथा जारसेवापि धर्मः स्यात् , जन्मवत् दिनस्यापि परिच्छेदकत्वात् । किञ्च, पतिसुतादयश्च न धर्महेतवो भवितुमर्हन्ति । यतः आर्तिदाः । न हि धर्मनिमित्तानि कदाचित् दुःखदानि भवन्ति । अन्यथा संसारो न स्यात् । अतस्तैः किम् । तेषां भयमस्तु, अन्यद्वा, न तैः किञ्चित्प्रयोजनमित्यर्थः । परमेकमेव प्रार्थनीयम् , यदभावे सर्वं शास्त्रं युक्तिश्च व्यर्था स्यात् । तदाहुः, तत्तस्मात् प्रसीद, त्वं

प्रसन्नो भव । त्वदप्रसादादेव लोका भ्रान्ताः दुःखहेतुष्वपि प्रवर्तन्ते । ननु किं साधनं प्रसादे भवतीनामिति चेत् , तत्राहुः वरदेश्वरेति । ये हि वरान् प्रयच्छन्ति, ते लोकानां क्लेशं ज्ञात्वा, यतो दयालवः, अन्यथा तपसि क्रियमाणे वरं न प्रयच्छेयुः । तेषामपि त्वमीश्वरोऽतिदयालुः । तद्द्वारापि सर्वेषां दुःखशमनं करोषि । अतो वयं क्लिष्टाः । क्लेश एव साधनम् , तपोवत् । निषिद्धप्रकारस्तु यद्यत्र कश्चन भविष्यति, स न कर्तव्यः । ननु यच्चैतावन्तं कालं पतिसेवा कृता, एवमेवाग्रेऽपि कर्तव्या, प्राप्तत्वात् । गौणमपि कर्म समारब्धं समापयेदिति, तस्मादविचार्यैव पतिसेवां कुरुतेति चेत् , तत्राहुः—मास्म छिन्द्या आशां धृतामिति । नास्माभिः पतिसेवा कृता, तदर्थं वा स्थितम् , त्वदाशया स्थितम् , मध्ये स्थितिनिर्वाहार्थमेव तदङ्गीकारः । इदानीं चेत् समागतानामभिलषितार्थो न सिध्येत्, तदा आशा भग्ना भविष्यति । तस्यां गतायां प्राणा एव गमिष्यन्तीति । अत एव केनचित् स्त्रीहृदयज्ञेन निरूपितम् , 'आशाबन्धो हृदयं रुणद्धी'ति । एतस्य मूलमपि [illegible]शाखे भविष्यति । चिरात् त्वय्येव धृताम् , तस्यां छिन्नायां अवलम्बनाभावात् अधः पतिष्याम इति । स्मेत्ययमर्थः प्रसिद्धः । अरविन्दनेत्रेति सम्बोधनं दृष्ट्यैवाप्यायकत्वं निरूपयति । ([1]आशाहेतुरप्यनेनोक्तः, तापहारकदृष्ट्या दर्शनात् । भावोद्धारिण्या एव तथात्वात् । इयदवधि जीवनमप्यत एवेति भावः ।) ॥ ३३ ॥

गोपियां कहती हैं कि आपने (श्लो० २० में) कहा था कि माता-पिता आदि तुम्हारी खोज करेंगे, उनको तुम भय उत्पन्न मत करो । इसके उत्तर में हमको यह कहना है कि घर का त्याग प्रथम हमने ही किया है, अथवा किसी और ने भी हमसे प्रथम किया है, अथवा करते हैं, सगे-सम्बन्धियों को त्रास नहीं करनेवाले पुरुषों में भी क्या अधम कोटि के मनुष्य माता-पिता आदि की सेवा करते हैं, अथवा उत्तम कोटि के मनुष्य माता-पिता आदि की सेवा करते हैं ।

उत्तम कोटि के मनुष्य आपकी सेवा करने में अशक्त हैं, इसलिये माता आदि की सेवा करते हैं, अथवा आपकी सेवा करने की सामर्थ्य होते हुए भी उत्तम पुरुष माता आदि की सेवा करते हैं, यह सब बात विचार करने योग्य है । हम इस विषय का निर्णय करनेवाले महत् पुरुषों का चरित्र आपसे कहती हैं, सुनिये ।

जो लोग आत्मविषय में कुशल होते हैं, अर्थात् आत्महित चाहनेवाले हैं, और देह-इन्द्रियों का हित नहीं चाहनेवाले हैं, वे सब लोग आप में ही प्रीति करते हैं ।

यहां पर 'आत्मकुशलाः' आत्महित की इच्छा करनेवाले, कहने से स्वार्थ के लिये पूजा करनेवाले पूजामार्गियों का निरूपण किया है ।

प्रीति करने में हेतु कहती हैं कि 'स्नेहेन' स्नेह से प्रीति करते हैं, आत्महित के लिये भगवद्विषयणी क्रिया अवश्य करनी चाहिये । क्रिया रति के विना सम्भव होती नहीं है, इसलिये प्रीति करते हैं ।

---

१. ( ) चिह्नान्तर्गतं प्रभूणाम् ।

यदि कहो कि स्नेह और क्रिया दोनों समान विषय में होते हैं, अर्थात् जिसमें स्नेह होता है, उसीमें क्रिया होती है, इस प्रकार का नियम है, इसलिये भगवान् में ही स्नेह होता है, आत्मा में नहीं होता है ।

इस शंका का उत्तर देती हैं कि क्रिया और स्नेह दोनों समान विषय में स्वाभाविक होते हैं, कारण कि आत्मा ही निरुपधि स्नेह का विषय है, भगवान् में औपाधिक स्नेह है, मुख्य तो आत्मा में ही है ।

भगवान् में किया कर्म जीवगामी होता है, कारण कि भगवान् सर्व का आत्मा है, इसलिये आपमें ही प्रीति करते हैं, इसी को भागवत स्कं० ७ अ० ९ श्लो० ११ में कहा है कि 'तच्चात्मने प्रतिमुखस्य' ।

जिस प्रकार मुख की शोभा प्रतिबिम्ब की शोभा होती है, उसी प्रकार भगवत्सेवा अपनी सेवा–पूजा होती है ।

यदि कहो कि भगवत्सेवा की तरह पुत्र आदि की सेवा भी प्रमाण बोधित है, अतः आत्महित के लिये पुत्रादि की सेवा भी होनी चाहिये ।

इस शंका के उत्तर में गोपियां कहती हैं कि सेवा प्रीति से होती है, पुत्रादि में तो सेवामात्र का बोध किया है, प्रीति का नहीं किया है । सेवा प्रीति के विना नहीं होती है ।

यदि कहो कि प्रीति तो आक्षेप से अपने आप ही लभ्य हो जायेगी ।

तब गोपियां इस शंका का भी उत्तर देती हैं कि पुत्रादि की सेवा में धर्म भी नहीं है । यदि पुत्र आदि की सेवा भी धर्म हो, तो सेवा पुरुषार्थ है, अतः आत्मपर्यवसायिनी–पुत्रादि सेवा आत्मगामी होनी चाहिये, किन्तु पुत्रादि की सेवा धर्म नहीं है, इसीसे पुत्रादि की सेवा में प्रेरणा नहीं है, पुत्रादि सेवाराग से प्राप्त है, इसलिये शास्त्र में राग से प्राप्त पुत्रादि सेवा का अनुवाद है ।

मूल श्लोक में 'कुशलाः' यह शब्द कहा है, इसका आशय इस प्रकार है कि देह आदि की सेवा प्रवृत्तिरूप है, देह आदि की सेवा की अपेक्षा भगवत्सेवा निवृत्तिरूप उत्तम है, इस प्रकार मानकर आचरण करना यही कुशलता है ।

इन्द्रिय-दमन करने का सामर्थ्य नहीं हो तो इन्द्रियों के पति आदि की सेवा करने में इन्द्रियों का विनियोग करना चाहिये । इसका प्रमाण भागवत एकादश स्कन्ध में कहा है कि—

'यतो यतो निवर्तेत विमुच्येत ततस्ततः ।
एष धर्मो नृणां क्षेमः शोकमोहजरापहः ।। ११–२१।१८

जहां-जहां से मनुष्य निवृत्त होता जाता है, वहां-वहां से बन्धनमुक्त होता जाता है, अर्थात् जिसमें बन्धन निवृत्त करने का सामर्थ्य नहीं है, वह इन्द्रियों को अन्यगामी करता है, और जिसमें बन्धन निवृत्त करने का सामर्थ्य है, वह निरुद्ध इन्द्रियों को आत्मगामी करता है ।

यद्यपि निवृत्ति को उत्तमता है, तथापि इन्द्रियों का निग्रह करने पर भी कुशलता का पर्यवसान नहीं होता है, इन्द्रियां तो आत्मगामी उसी समय होती हैं कि जिस समय आप–भगवान् में उपयुक्त होती हैं, अतः केवल इन्द्रियनिग्रह करनेवालों की अपेक्षा जो मनुष्य आप भगवान् में प्रीति करते हैं, वे कुशल–चतुर हैं । इस प्रकार 'हि' शब्द का अर्थ है ।

मूल श्लोक में 'त्वयि' आपमें, इस प्रकार एकवचन कहा है, इस एकवचन से सूचित होता है कि प्रथम श्लोक की तरह आप—एकाकी भगवान् में सर्वकार्य संभव हो सकता है ।

इस प्रकार वादमुद्रा से औपाधिक प्रीतिपक्ष स्वीकार करके हीनाधिकार के विचार में भी हीनाधिकारियों का कौशल निरूपण करके विषय निर्धार किया है, कि जो कुशल नहीं हैं, उनके

लिये बन्धु साध्वस–भय नहीं करना चाहिये, माता आदि की सेवा करनी चाहिये, किन्तु कुशल—चतुर पुरुषों को तो बन्धु आदि को भय उत्पन्न करना ही चाहिये, और माता आदि की सेवा भी नहीं करनी चाहिये।

अब सिद्धान्त की रीति से गोपियां कुशलता का स्वरूप बतलाती हैं, कि 'किञ्च' आप हमारे आत्मा—स्वरूपभूत हो।

अध्यासन्याय से–देह, इन्द्रिय आदि को आत्मा मान लेना, इस न्याय से आत्मा नहीं हो। 'परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' 'स उत्तमः पुरुषः' इत्यादि श्रुतियों से 'स एव सर्वं परमार्थभूतः' इत्यादि स्मृतियों से आप हमारी आत्मा हो, इसलिये आपमें ही प्रीति करना ज्ञान कौशल है, अन्य प्रकार से कौशल नहीं है।

जिसको भगवान् हमारी आत्मा हैं, इस प्रकार ज्ञान नहीं है, वह प्रीति नहीं करता है।

अब गोपियां सेव्य-सेवक विचार से भी कौशल का समर्थन करती हैं कि प्रिय की ही सेवा करनी चाहिये, यदि वह प्रिय काल परिच्छेद्य–कालमर्यादा से युक्त अनित्य नहीं हो तो सेवा करनी चाहिये।

काल परिच्छेद्य रहित नित्य आपके विना अन्य कोई नहीं है, इसलिये इस प्रकार के आप ही सेवा करने योग्य हो।

'नाल्पे सुखमस्ति' 'भूमैव सुखम्' इत्यादि श्रुतियों में यही प्रतिपादन किया है।

यदि कहो कि भूमा सुख प्राप्ति के प्रथम निषेधरहित सुखसाधन में भी जीवों की प्रवृत्ति दीखती है, फिर नित्य प्रिय की सेवा का निर्बन्ध–आग्रह क्यों करती हो।

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि 'अन्यथा' यदि नित्यप्रिय की सेवा का निर्बंध शास्त्र अभिमत नहीं हो तो जारसेवा भी धर्म हो जाये। और यदि जारसेवा धर्म हो जाये तो शास्त्र में जारसेवा की आज्ञा भी होनी चाहिये, कारण कि जो शास्त्रविहित है वही धर्म है, जार की सेवा शास्त्र में विहित नहीं है।

यदि कहो कि पहिले जन्म में स्त्री का पुरुष के साथ विवाह होता है। उसके अनन्तर जब स्त्री मर जाती है तब प्रथम पुरुष पति जीवित रहता है, फिर पुनर्जन्म में उस स्त्री का पूर्व सम्बन्धित जीवित पति के साथ विवाह नहीं होकर दूसरे पुरुष के साथ विवाह होता है, उस अन्य पति से सम्बन्ध होने में दोष नहीं कहा है, कारण कि इस अन्य पति के सम्बन्ध में तो दूसरे जन्म का व्यवधान हो गया है इसलिये दोष नहीं है, यदि इस प्रकार कहो तो मत कहो, जो इस प्रकार जन्म का व्यवधान मान लिया जाये तो, इसी के सदृश योग-क्षेम होने से जन्म की तरह दिन को भी परिच्छेदकता है, अतः यहां भी दोष नहीं होगा, जिस प्रकार पति काल-परिच्छिन्न है – कालमर्यादा में है, उसी प्रकार जार भी दिन की मर्यादा में है, कारण कि नित्य परिच्छिन्न में समागम को जन्म कहते हैं, वह जन्म जिस प्रकार जन्मान्तर में, उसी प्रकार प्रतिदिन में भी होता है। सुषुप्ति अवस्था में जीव प्रतिदिन भगवान् में लीन होता है, और फिर प्रतिदिन पुनरागमन होता है, 'सर्वं एव आत्मानो व्युच्चरन्ति' इत्यादि श्रुतियों में कहा है। नित्य प्रलय होता है, इस विचार से भी देह का अवस्था भेद से भेद है, अतः लिङ्ग शरीर मुक्ति-पर्यन्त एक होने से प्रयोजक नहीं है, इसलिये दिन को भी परिच्छेदकता होगी।

यदि कहो कि जार को पतित्व नहीं है, इसीसे जार की सेवा करने में धर्म नहीं है, इस प्रकार कहा है, और विवाहित पति की सेवा करने में धर्म कहा है।

तब इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि 'स वै पतिः स्यादकुतोभयः स्वयं जीवच्छवं भजति कान्तमतिर्विमूढा। या ते पदाब्जमकरन्दमजिघ्रती स्त्री' इत्यादि वाक्यों से जिसको काल का भय है, वह पति ही नहीं है, पति तो वास्तव में वही है, जो स्वयं किसी से भय वाला नहीं हो, अकुतोभय हो, जो स्त्री आपके चरणारविन्द के मकरन्द का सेवन नहीं करती है, वह जीते ही मुरदा का भजन करती है, इत्यादि वाक्यों से जिसको काल आदि का भय है, वह पति नहीं है, अतः लौकिक पति, तथा जारपति दोनों ही कालपरिच्छिन्न हैं, अर्थात् काल भय से भयभीत होने के कारण तुल्य हैं।

यदि कालपरिच्छिन्न प्रिय की सेवा प्राप्त होती हो तो पतिसेवा की तरह जार की सेवा भी धर्मरूप हो जाये, किन्तु जारसेवा धर्मरूप नहीं है, इससे स्पष्ट हो जाता है कि काल परिच्छिन्न प्रिय की सेवा नहीं करनी चाहिये।

शास्त्र में जो पतिसेवा का विधान किया है, वह हरि की सेवा का ही विधान किया है।

यदि कहो कि जो शास्त्र हरिसेवा का ही विधान करता है तो फिर स्मृतियां लौकिक पति का भजनविधान क्यों करती हैं ?

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि प्रभुदुराप हैं, बहुत कठिनता से प्राप्त होते हैं, इसलिये व्यवहार नियम चलाने के लिये केवल स्मृति आदि में कथन किया है, उसमें भी जिसमें अधिक गुण हों वही पति होता है, इसी से स्मृतियों में कहा है कि वाग्दत्ता–वाणी से दी हुई भी कन्या, श्रोत्रिय वर प्राप्त होने पर, जिसको वाग्दान दिया है, उसको नहीं देकर श्रोत्रिय वर को ही देनेका विधान कहा है, अतः उसी श्रोत्रिय को दी जाती है, प्रथम वाग्दानवाले को नहीं दी जाती है।

स्मृतियों में भी विष्णु बुद्धि से पतिसेवा का विधान है, (कन्यादान समय 'विष्णुरूपिणे वराय' इस प्रकार संकल्प किया जाता है) इसलिये गौणपक्ष का आश्रय करके जिस प्रकार चावलों के अभाव में समा के चावल काम में लेते हैं, उसी प्रकार विष्णु के अंश की सत्ता से लौकिक पतिसेवा का विधान कहा है। और जार में तो विधिबोधित गुण का भी अभाव है, उलटा दोष अधिक है, इसलिये लौकिक पति की तरह जार गौण पति भी नहीं है, और जार की सेवा में गौण धर्म भी नहीं है।

इस प्रकार गोपियों ने धर्म का विचार करनेवाले ज्ञाताओं के चरित्र का, तथा आनन्द का विचार करनेवालों के चरित्र का निर्णय करके भगवान् के कहे वाक्यों का तात्पर्य निर्धार किया है।

अब इसके आगे प्रथम कहे को दृढ करने के लिये प्रत्यक्ष स्फुरित अर्थ में गोपियां दोष वर्णन करती हैं। 'किञ्च'।

पति-पुत्रादि धर्म के कारण नहीं हो सकते हैं, कारण कि दुःख देनेवाले हैं, जो धर्म के निमित्त हैं, वे कभी भी दुःख देनेवाले नहीं होते हैं।

यदि पति-पुत्रादि को धर्म के हेतु मानते हैं तो फिर संसार ही नहीं होगा, अतः दुःख देने वाले पति-पुत्रादि से हमको क्या प्रयोजन है। कुछ भी नहीं। भले ही हमारे संबंध से पति-पुत्रादि को भय हो, अथवा कुछ और हो, हमारा उनसे धर्मसिद्धि आदि कुछ भी प्रयोजन नहीं है, हमको तो आपसे केवल एक ही वस्तु की प्रार्थना है कि जिस वस्तु के विना सर्वशास्त्र और युक्ति व्यर्थ हो जाती हैं, वह वस्तु–आप भगवान् प्रसन्न हो जाओ। यही हम मांगती हैं कारण कि आप की प्रसन्नता के विना ही लोक भ्रान्त, दुःख देनेवाले विषयादिकों में प्रवृत्त होता है।

यदि भगवान् कहे कि गोपियो ! तुम्हारे पास मुझे प्रसन्न करने का क्या साधन है ? तब इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि हे वरदेश्वर ! जो कोई भी वरदान देते हैं, वे लोकों को क्लिष्ट जानकर ही वर देते हैं, कारण कि वर देनेवाले दयालु होते हैं, जो वरदान देनेवाले दयालु नहीं हों तो तप करनेवालों को वरदान नहीं दें, इस प्रकार के दयालु वरदान देनेवालों के भी आप ईश्वर हो, अर्थात् अति दयालु हो। आप वरदान देकर भी सर्व का दुःख दूर करते हो, विना साधन ही प्रसन्न हो जाते हो, इसलिये आपसे प्रार्थना करती हैं, कि यदि साधन की अपेक्षा हो तो हम सब क्लिष्ट-दुःखी हैं, हमारा तप की तरह क्लेश ही साधन है।

यदि क्लेश दूर करने में कोई निषिद्ध प्रकार हो तो वह आपको नहीं करना चाहिये, तात्पर्य यह है कि यदि आप यह जानें कि गोपियां सर्वात्मभाव से नहीं आई हैं, किन्तु कामभाव से विषयभोग भोग करने के लिये आई हैं, तो वह निषिद्ध प्रकार नहीं करना चाहिये। हमारा क्लेश दूर करना चाहिये।

यदि भगवान् कहें कि गोपियो ! जिस प्रकार तुमने इतने कालपर्यन्त पतियों की सेवा की, उसी प्रकार आगे भी पतिसेवा प्राप्त है, करनी चाहिये। कारण कि इस प्रकार का नियम है कि गौणकर्म भी प्रारम्भ करके पूरा करे मध्य में नहीं छोड़े, इसलिये विना विचारे ही सब बातों को छोड़कर पतिसेवा करो।

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि 'मास्म छिन्द्या आशां धृताम्' हमने अभीतक पतिसेवा नहीं की और न पतिसेवा के लिये घर में ही रही हैं, हम तो आपकी आशा से इतने दिनतक घर में रही हैं, और मध्य में लोकमर्यादा का अनुसरण करने के लिये गोपों का स्वीकार किया था, इस समय आपके समीप में आई हुई हमारा यदि अभिलषित अर्थ सिद्ध नहीं हुआ तो फिर हमारी आशा भङ्ग हो जायगी, आशाभग्न हो जाने पर, उसके साथ प्राण भी निराश होकर चले जायँगे, अतः स्त्रियों के हृदयज्ञ कवि कालिदास ने 'मेघदूत' नाम के काव्य में कहा है कि 'आशाबन्धो हृदयं रुणद्धि' आशारूपी बन्धन हृदय को रोकता है, कवि के इस वाक्य का मूल स्त्री शास्त्र में—रसशास्त्र में है।

गोपियां कहती हैं कि बहुत काल से 'कल्पपर्यन्त' हमारी आप में ही आशाएं लगी हैं, तत्तद् आशा के छिन्न—कट जाने से अवलम्ब—आश्रयरहित हमारा अधःपात हो जायगा।

मूल में 'स्म' पद सूचन करता है कि हमने जो कुछ अर्थ कहा है, वह प्रसिद्ध है।

गोपियों ने 'हे अरविन्दनेत्र' हे कमल सदृश नेत्रवाले इस प्रकार का भगवान् को सम्बोधन दिया है, इसका तात्पर्य यह है कि आपकी दृष्टि ही तापहरण करके संवर्द्धन करती है, अरविन्दनेत्र सम्बोधन आशा में भी हेतु है, कारण कि तापहरण करनेवाली दृष्टि से आप हमको देख रहे हो, और दृष्टि से ही अनेक भाव सूचन करके हमारा ताप दूर करते, दुःखी हमको आशा प्रदान करते हो, इसीसे अभीतक जीवित रही हैं, यह भाव है ॥ ३३ ॥

(सुबो०) यदुक्तं 'वनदर्शनार्थं किमागता' इति, ततश्च वनवर्णना कृता, तत्राहुः—चित्तं सुखेनेति।

भगवान् ने गोपियों से २२ वें श्लोक में कहा था कि क्या आप सब वन देखने के लिये आई हो, इस प्रकार कहकर वन का वर्णन किया, इसके उत्तर में गोपियां आगे का श्लोक कहती हैं।

चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेऽपि
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्
यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा ॥ ३४ ॥

पदपदार्थ—(भवता) आपने (सुखेन) आनन्दरूप से (चित्तं) हमारा चित्त (अपहृतं) चुरा लिया है (गृहेऽपि) घर में भी (यत्) जो चित्त (निर्विशति) प्रवेश करता है, वह। चुरा लिया है (उत) और (करौ) दोनों हाथ (अपि) भी (गृह्यकृत्ये) घर के कार्यों में नहीं लगते हैं उनका भी बल हरण कर लिया है, (तव) आपके (पादमूलात्) चरणमूल वृन्दावन स्थान से (पादौ) दोनों चरण (पदं) एक पग भी (न) नहीं (चलतः) चलते है (व्रजम्) व्रज को (कथं) कैसे (यामः) जायें (अथो) व्रज जाने के अनन्तर (किं वा) क्या (करवाम) करें ॥ ३४ ॥

भावार्थ—आनन्दरूप आपने हमारा चित्त चुरा लिया है, इसलिये घर में प्रवेश नहीं करता है, और हाथ घर कार्यों में लगते नहीं हैं, आपके चरणमूल से हमारे पद भी एक पग भर चलते नहीं हैं, इस प्रकार की दशा में हम व्रज में कैसे जाये, और जा करके भी क्या करें ॥ ३४ ॥

(सुबो०) वनदर्शनेच्छा तदा भवति, यदा चित्तं स्वस्मिन् तिष्ठेत्। तत्तु त्वयैवापहृतम्, तत्रापहारे न तव प्रयासः, तथा सति सर्वं नापहृतं स्यात्, तदाह सुखेनेति। भवता वा आनन्दरूपेणापहृतम्। न हि साक्षात् परमानन्दे सति कश्चित् परम्परया पाक्षिकं साधनं गृह्णाति। वनदर्शनं दूरे, गृहेऽपि यच्चित्तं निर्विशति। अनेन ज्ञानशक्तेरपहार उक्तः। नापि मन्तव्यं वनं किञ्चित् कार्यार्थमागता इति। तदर्थं क्रियाशक्तेरप्यपहारमाह उत करावपीति। यौ गृह्यकृत्ये निर्विशतः, दूरेणापास्तं वनकृत्यम्, कामेन बलस्य हृतत्वात्। त्वत्स्पर्शेनैव करौ सजीवौ भवतः। नो चेन्मृतौ। अतः सेवाविधिरपि हस्ताभावात् कुण्ठितः। नहि कररहितं कर्मणि कश्चिन्नियुंक्ते। किञ्च, यत् व्याघुट्य गन्तव्यमित्यभिप्रायेण वनदर्शनं जातमित्युक्तम्, तदप्यसम्भावितम्। यतोऽस्माकं पादौ द्वावपि तव पादमूलादस्मात् स्थानात् एकमपि पदं न चलतः, नान्यत्र गच्छतः। पादानां गतियुक्तानां मूलभूतौ त्वत्पादौ, तस्यापि चेन्मूलं गताः, तदा कथमन्यत्र गच्छेयुः, अन्यथा वृक्षाणामपि गतिः स्यात्, मूलं गतानाम्। 'अस्मात् स्थाना'दिति वक्तव्ये, यत् 'तव पादमूला'दित्युक्तम्, तत् त्वद्गमनेन सर्वत्र गन्तुं शक्यते, न तु त्वद्व्यतिरेकेणेति ज्ञापितम्। अतः कथं यामः। शकटादिना प्रेषणीया इति चेत्, तत्राहुः। अथो अथ तत्र गत्वा किं वा करवाम। यथा शकटादिकं गृहे यापनार्थं साधनमस्ति, न चैवं हस्तयोः कार्यंकरणे किञ्चित् लोकसिद्धम्। न केवलं गमनेन

प्रयोजनम्, किन्तु पित्रादिसेवार्थं गमनम्, तदभावाद् व्यर्थमेव गमनमिति भावः। तदाहुः। अथो अथ किं वा करवामेति। हस्तनिरपेक्षा कृतिः भिन्नप्रक्रमेण भगवद्भावेन भवतीति तथोक्तम्। अनेन स्तनपानमप्यशक्यं निरूपितम्। आशाऽभावे सर्वत्रैव शोषात् ॥ ३४ ॥

वन देखने की इच्छा तो तब होती है जब चित्त अपने शरीर में हो, किन्तु चित्त तो आपने अपहरण कर लिया है।

हमारा चित्त अपहरण करने में-चुराने में आपको किसी प्रकार का प्रयास नहीं हुआ है, यदि चित्त अपहरण करने में आपको प्रयास करना पड़ता तो हमारे सर्वचित्त का अपहरण आप नहीं कर सकते, इसी बात को गोपियां कहती हैं 'सुखेन' सुख से हमारा चित्त अपहरण किया है, अथवा आनन्दरूप आपने हमारा चित्त अपहरण कर लिया है। साक्षात् परमानन्द भगवान् की प्राप्ति होने पर फिर कोई भी मनुष्य परम्परा से प्राप्त पाक्षिकसाधन को ग्रहण नहीं करता है, वनका दर्शन तो दूर रहा, घर में भी चित्त नहीं लगता है। इस प्रकार गोपियों की ज्ञानशक्ति का अपहरण कहा है।

आगे गोपियां कहती हैं कि आपको यह भी नहीं मानना चाहिये कि ये सब गोपियां वन में किसी कार्य के लिये आई हैं, इसी को द्योतन करती गोपियां अपनी क्रियाशक्ति का भी अपहरण कहती हैं कि 'उत करावपि'। हमारे दोनों हाथ घरकार्य में नहीं लगते हैं, फिर वन की बात तो दूर ही रही।

यदि कहो कि मन की तरह हस्तों का अपहरण करना संभव नहीं हो सकता है।

तब इसके उत्तर में गोपियां अपहरण प्रकार कहती हैं कि, 'कामेन' भगवान् के सम्बन्ध की अभिलाषा से हस्तों के बल का—क्रियाशक्ति का अपहरण हो गया है, कारण कि आपके स्पर्श बिना मृततुल्य हैं, इसलिये शास्त्राज्ञानुसार पति आदि की सेवाविधि भी प्रतिबन्धित हो गई है। इस समय हम अपने गोपों की भी सेवा नहीं कर सकती हैं। कोई भी मनुष्य किसी हस्तरहित को किसी काम में नियुक्त नहीं करता है।

गोपियां कहती हैं कि आपने कहा था कि घर लौटकर जाना चाहिये, वन देख लिया।

इसके उत्तर में कहती हैं कि पीछे लौटकर घर जाना हमारा संभव नहीं है, कारण कि हमारे दोनों पाद आपके पादमूल स्थान से एक भी पग अन्यत्र नहीं जाते हैं, इसका कारण कहती हैं कि हमारे गतियुक्त पादों के मूलभूत आपके दोनों पाद हैं, आपके चरणों के भी मूल में प्राप्त हुए हमारे पाद हैं तो फिर अन्यत्र किस प्रकार जा सकते हैं, अर्थात् पाद दोनों गोलक हैं, इन्द्रिय गति है, इन्द्रिय सहित गोलकों के आधिदैविक विष्णुरूप आपके पाद हैं, कारण कि हमारे पाद के आधिदैविक भगवान् के गोलक हैं।

यदि इसको नहीं मानते हैं तो मूल तक प्राप्त हुए वृक्षों की भी गति हो जाये।

मूल में 'अस्मात् स्थानात्' इस स्थान से, इस प्रकार कहना था, किन्तु 'तव पादमूलात्' आपके चरणमूल से, इस प्रकार जो कहा है, इससे यह ज्ञापित होता है कि, आपका गमन होने पर हमारा भी गमन सर्वत्र हो सकता है, आपके विना हमारा गमन नहीं हो सकता है, अतः व्रज में कैसे जायें।

यदि भगवान् कहें कि गोपियो ! यदि तुम नहीं चल सकती हो तो मैं तुमको गाड़ी आदि सवारी से भेज दूं।

तब इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि 'अथो' हम गाड़ी आदि सवारी में बैठकर व्रज में जाकर के क्या करेंगी। जिस प्रकार गाड़ी आदि साधन विना दुःख के घर जाने में हैं, उस प्रकार हाथों का कार्य करनेवाला साधन लोक में कोई प्रचलित नहीं है।

हमारा केवल घर जाने का ही प्रयोजन नहीं है, किन्तु घर जाकर के आपके कथनानुसार पिता आदि की सेवा करना भी तो घर जाने का प्रयोजन है, इस समय इस प्रकार की दशा में पिता आदि की सेवा भी नहीं हो सकती है, अतः गाड़ी आदि सवारी से घर जाना व्यर्थ है। इसी बात को गोपियां कहती हैं कि 'अथो-अथ, किं वा करवाम' घर जा करके क्या करेंगी।

यदि आप कहें कि गोपियो ! हाथों के विना यहां रह कर भी क्या करोगी।

तब इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि यहां की कृति में तो हस्तों की अपेक्षा ही नहीं होती है, कारण कि यहां कृति इन्द्रियजन्य-अर्थात् इन्द्रियों से नहीं होती है, किन्तु भिन्न प्रक्रम से भगवदावेश द्वारा होती है। इसलिये यहां रहने में कोई प्रकार की बाधा नहीं है, इस प्रकार घर में भिन्न प्रक्रम से कृति संभव नहीं होती है, अतः घर जा करके क्या करें। इस प्रकार गोपियों ने 'अथो किं वा करवाम' इस वाक्य से कहा है। और ऊपर के वाक्य से गोपियों ने यह भी कह दिया है कि घर जाकर बालकों को स्तनपान कराने का भी सामर्थ्य हममें नहीं है, कारण कि जब आप हमारी आशा भङ्ग कर देंगे, तो तापक्लेश से सर्वशरीर ही सूख जायगा, फिर स्तनों का दूध भी सूख जायगा, तो स्तनपान कराने की भी अशक्यता स्पष्ट ही हो जायगी ॥ ३४ ॥

(सुबो०) यद्भगवता शीघ्रं गच्छतेत्युक्तम्, तत्राहुः—सिञ्चाङ्गेति।

भगवान् ने प्रथम गोपियों से कहा था कि शीघ्र लौटकर घर पधारो, इसका उत्तर आगे श्लोक में देती हैं।

सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरामृतपूरकेण
हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निम् ।
नो चेद्वयं विरहजाग्न्युपभुक्तदेहा
ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते ॥ ३५ ॥

पदपदार्थ—(हे अङ्ग) यह गोपियों ने कोमल सम्बोधन किया है। (नः) हमारे सबके (त्वदधरामृतपूरकेण) अपने आप अधरामृत पूरक प्रवाह जल से (हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निम्) आप हासपूर्वक अवलोक और कल-अव्यक्त मधुर गीत द्वारा उत्पन्न हृदय में रहनेवाली कामाग्नि को (सिञ्च) सिञ्चन करो—सींचो (नो) नहीं (चेत्) तो (विरहजाग्न्युपभुक्तदेहाः) विरह से उत्पन्न अग्नि द्वारा जली हुई देहवाली (वयं) हम सब (हे सखे) हे सखा—मित्र (ध्यानेन) ध्यान द्वारा (ते) आपके (पदयोः) दोनों चरणों की (पदवीं) मार्ग को, अर्थात् आपके पीछे-पीछे (याम) हम भी जा रही हैं ॥ ३५ ॥

भावार्थ—हे अङ्ग ! हमारे सबके आप अपने अधरामृतपूरक-प्रवाह जल से और हास्यपूर्वक अवलोक, तथा अव्यक्त मधुरगीत से उत्पन्न हृदय में रहनेवाले कामाग्नि को सींचो, जो आप कामाग्नि का सिञ्चन नहीं करोगे तो विरह से उत्पन्न अग्नि द्वारा जली हुई देहवाली हम सब हे सखे—मित्र ध्यान द्वारा आपके दोनों चरणों की पदवी—मार्ग को प्राप्त हो रही हैं ॥ ३५ ॥

(सुबो०) वयं शीघ्रमेव गमिष्यामः, यदि त्वं प्रतिबन्धं न करिष्यसि । अनेन तूष्णींभावेऽपि मरणम् , परावृत्तौ तु न किञ्चिद्वक्तव्यम् । हे अङ्ग ! त्वदधरामृतपूरकेण त्वदधरामृतप्रवाहजलेन नो हृच्छयाग्नि सिञ्च । स चाग्निः त्वयैवोत्पादित इति ! तत्कारणमाहुः— हासावलोककलगीतजेति । तव योऽयं हासपूर्वकः अवलोकः कलगीतं च, ताभ्यां जातो यो हृच्छयः कामः, स एवाग्निः । हासः कामजनकः, अवलोकः सन्धुक्षणकर्ता । गीतं वायुरिव, तत्रापि कलगीतं सर्वतो वायुः । सोऽपि जातो हृदये । हृदयगामि च । त्वदधरामृतमेव । पूरो हि वस्तु प्रवाहयति, तस्यात्र सेचनकरणत्वेनोक्त्याऽग्नेरतिमहत्त्वं ध्वन्यते । अतो युक्ता सेचनोक्तिः । अलौकिकश्चाग्निः अलौकिकेनैव शाम्यति । कन्दर्पो हि मृतो ज्वलति, स हि जीवन् अग्न्यवस्थां त्यजति, नान्यथा, अमृतेनैव च जीवति, तत्रापि न देवभोग्येन, अन्यथा तैरेव जीवितः स्यात् । सृष्टिकारणत्वात् नास्य मोक्षः । अतोऽतिगुप्तेनैवाधरामृतेन तस्य जीवनम् । अतः सेचनमेवोक्तम् । अन्यथा निर्वापणमेव प्रार्थयेयुः । कामे जीवति जीविष्यामः, अन्यथा स स्वयं ज्वलन् अन्यानपि ज्वालयिष्यति । तदाहुः नोचेदिति । सेचनेन यदि मन्त्रवादीव न जीवयिष्यसि, तदा विरहेण जनितो योऽग्निः, तेनोपभुक्तदेहाः ध्यानेन ते पदयोः पदवीं यामः । स्वयं स्वतन्त्रमार्गाज्ञानात् , त्वं च सखा येन मार्गेण गमिष्यसि, तेनैव वयमपि यास्यामः । (यथा[1] त्वमधुनाऽस्मभ्यमार्तिप्रदः, तथा वयमपि तथाभूतास्तुभ्यं पश्चात्तापादिहेतवो भविष्याम इति गूढाभिसन्धिः 'ते पदयोः पदवीं यामे'ति वक्त्रीणामिति ज्ञेयम् ।) देहे गते त्वन्तर्यामिणा क्वचिद् गन्तव्यम् , देहान्तरस्य तु नोत्पत्तिः, बीजस्य दग्धत्वात् । हरेणैव दग्धो न कामः प्ररोहति, स विपरीतो रहो भवति । तत्रापि विशिष्टो विरहः एकान्ताभावरूपो वा । अनेन त्वया सह एकान्ताभावे विरहत्वम् । यद्यपि पूर्वोक्ताग्निनैव दाहः संभवति, तथापि भस्मसात्करणे न तस्य सामर्थ्यम्, यावत् सर्वाङ्गेषु सूक्ष्मावयवेष्वप्यग्निः प्रविश्य नोद्बुद्धो भवति । यथा वह्निसम्बन्धेन शुष्कं काष्ठं ज्वलति । तत उपाधेरत्यन्तं गतत्वात् ते पदयोर्गमनम् । अतो गमनं दूरापास्तम्, प्रत्युत मरणमुपस्थितमिति शीघ्रं प्रतीकारं कुरु ॥ ३५ ॥

गोपियां कहती हैं कि यदि आप प्रतिबन्ध नहीं करो तो हम शीघ्र ही घर चली जायें ।

इस प्रकार कहने से गोपियों ने यह भाव सूचन किया है कि यदि भगवान् गोपियों के लिये सुधादान नहीं करेंगे तथा भाषण नहीं करेंगे तो गोपियों का मरण उपस्थित हो जायेगा । फिर घर लौट कर जाने की बात तो दूर ही रही है ।

---

[1] ( ) चिह्नान्तर्गतं प्रभूणाम् ।

हे अङ्ग ! आप अपने अधरामृत के पूर से—अधरामृत प्रवाह जल से हमारी कामाग्नि को सींचो । यह कामरूप अग्नि आपने ही उत्पन्न की है, उत्पन्न का कारण गोपियां कहती हैं कि 'हासावलोककलगीतज' आपका हासपूर्वक अवलोक-कटाक्ष और अव्यक्त मधुर गीत, इन दोनों से उत्पन्न हृदय में रहनेवाला काम ही अग्नि है, हास, काम उत्पन्न करता है, और अवलोक-कटाक्ष फूंक मारने के सदृश अग्नि को प्रदीप्त करता है, गीत, वायु की तरह काम बढ़ाने वाला है, इसमें भी अव्यक्त मधुर गीत चारों ओर से आते हुए वायु के सदृश है । अतः कामाग्नि सर्वशरीर में फैलनेवाला है, अभी तो हमारे हृदय में ही उत्पन्न हुआ है, हृदय में आपका अधरामृत पहुँच सकता है, कारण कि देवभोग्यसुधा हमारी हृदयगामी नहीं होती है ।

पूर वस्तु को बहाकर ले जाता है, गोपियों ने पूर द्वारा सिञ्चन के लिये कहा है, इससे ज्ञात होता है कि गोपियों के हृदय में कामाग्नि अत्यन्त महान्-तीव्र प्रज्वलित हो रही है, इसलिये थोड़ा जल नहीं कहा, गोपियों ने पूरजल से सिञ्चन के लिये कहा है ।

यदि कहो कि जिस प्रकार पित्तादि से हृदय में ताप होता है, और वह ताप बाहर चन्दन आदि के पूर-लेप से शान्त हो जाता है, उसी प्रकार यह कामाग्नि भी बाह्य करस्पर्शादि से शान्त करनी चाहिये ।

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि अलौकिक कामाग्नि भगवान् आपके अलौकिक अधरामृत से ही शान्त होती है ।

तो इस अग्नि को अलौकिकता कैसे है ।

इस प्रकार जानने की इच्छा में गोपियां कहती हैं कि काम जब मर जाता है तब जलता है, और जब काम जीवित रहता है, तब अग्निरूप अवस्था का त्याग कर देता है, अन्यथा अग्निरूप त्याग नहीं करता है, मरा काम अमृत से ही जीवित होता है, उसमें भी देवभोग्य अमृत से जीवित नहीं होता है ।

यदि देवभोग्य अमृत से जीवित होता तो देवताओं द्वारा जीवित होने पर काम को मोक्ष देना चाहिये, किन्तु काम को मोक्ष नहीं होता है, कारण कि काम सृष्टि का कारण है, इसलिये काम को यदि मोक्ष दे दिया जाय तो सृष्टि ही होना नष्ट हो जाये, अतः काम को मोक्ष नहीं दिया जाता है । अत्यन्त गुप्त काम अधरामृत से जीवित होता है, इसलिये गोपियों ने काम का सिञ्चन करने को भगवान् से कहा है, यदि उक्त कारण नहीं होता तो गोपियां कामाग्नि के वध की प्रार्थना करतीं, सिञ्चन की नहीं करतीं ।

अब गोपियां कामाग्नि के सिञ्चन में फलित अर्थ कहती हैं कि काम के जीवित होने पर ही हम सब जीवित रहेंगी, नहीं तो काम के मरने पर काम स्वयं जलता हुआ, हमको भी जला देगा, अर्थात् काम विरह से उत्पन्न हुआ है, इसलिये हृच्छयत्व त्याग करके अग्निरूप होता हुआ हम सब को जला देगा । इसी बात को गोपियां कहती हैं कि 'नो चेत्' । अब गोपियां कहती हैं कि आप मन्त्रवादी-मन्त्र बोलनेवाले की तरह सिञ्चन करके यदि हमको नहीं जिलाओगे तो विरहोत्पन्न अग्नि से हमारी देह जल जायगी, और हम ध्यान द्वारा आपके चरणमार्ग में जाती हैं, अर्थात् जहां आप जायेंगे वहां आपके पीछे-पीछे हम सब भी जायेंगी ।

टिप्पणी में कहा है कि यहां पर श्लोक के उत्तरार्द्ध में सिञ्चन करने की आवश्यकता में गोपियों ने हेतु कहा है, उसमें भी 'याम' यह वर्तमान काल का प्रयोग किया है, इससे यह सूचन किया है कि सिञ्चन करने में क्षणमात्र का विलम्ब होगा तो हमारा जीवन नहीं रहेगा ।

गोपियां कहती हैं कि हमको स्वतन्त्र मार्ग का स्वयं ज्ञान नहीं है, इसलिये आप हमारे सखा हैं, जिस मार्ग से आप पधारेंगे, उसी मार्ग से हम सब भी जायंगी ।

प्रभुचरण कहते हैं कि यहां गोपियों ने गूढभाव से भगवान् को यह सूचित किया है कि जिस प्रकार आप इस समय हमारे लिये दुःख दे रहे हो, उसी प्रकार हम सब जब देहत्याग कर देंगी, तव आपके लिये पश्चात्ताप आदि से दुःखहेतु हो जायेंगी । 'ते पदयोः पदवीं याम' यह वचन वक्त्री गोपियों का है ।

यदि आप कहें कि गोपियो ! देह के बिना मेरे पास तक कैसे जाओगी ? इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि हमारी देहों का त्याग होने पर अन्तर्यामी को तो कहीं जाना ही पड़ेगा, वही भगवान् की पदवी है, उसके पीछे हम भी जायेंगी, कारण कि अब हमको दूसरी देह की उत्पत्ति नहीं होगी ।

'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च' इस श्रुति के अनुसार देह बीजवासना देह, अन्तर्गृहगताओं की तरह हमारा आपके ध्यान से दग्ध हो गयी है, इसलिये हमको दूसरी देह की उत्पत्ति तो नहीं होगी, किन्तु इस शरीर का नाश होने पर अन्तर्यामी पक्षी है, इसलिये उड़कर आप के चरणों में ही प्राप्त होगा, उसी के साथ हम सब भी आपके चरणकमल में प्राप्त हो जायेंगी। कारण कि अक्षर आपका धाम है, और हम सब अन्तर्यामी की छायारूप हैं, इसलिये उसके साथ मिलकर आप के चरणों में ही प्राप्त हो जायेंगी, यह भाव है ।

यदि भगवान् कहें कि गोपियो तुम्हारा शरीर जब जल जायेगा, तब मैं परीक्षित राजा की तरह जिला दूंगा ।

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि महादेव ने काम को दग्ध किया था, वह काम पुनः उत्पन्न नहीं होता है, किन्तु विपरीत–रह में होता है, और हममें जो अग्नि है, वह पूर्व अग्नि सदृश नहीं है, यदि पूर्व अग्नि सदृश होता तो फिर यहां अग्नि शब्द नहीं कहते, अतः इस समय यह अग्नि पूर्व कही अग्नि से भी कठिन है, इसका नाम व्युत्पत्ति से गोपियां कहती हैं, हर–महादेव द्वारा दग्धकाम अग्निरूप से रहता है, भस्मीभूत नहीं होता है, इसलिये प्रथम प्रार्थित अमृत से काम का पुनर्जीवन भी हो सकता है, किन्तु विरह अग्नि से दग्ध हुआ काम एक क्षण में भस्मसात् हो जाता है, फिर से उसके जीवित होने की आशा नहीं होती है, हर शब्द में 'ह' और 'र' दो अक्षर हैं, इनका विपरीत–उलटा करने पर 'रह' हो जाता है, और फिर 'वि' उपसर्ग से विशिष्ट प्रकार का 'रह' 'विरह' शब्द हो जाता है, यही विरह काम को भस्मसात् कर देता है, और महादेव से दग्ध काम अग्निरूप रहता है किन्तु भस्मसात् नहीं होता है, इस प्रकार रह का धर्म जलाना, और हर का धर्म जलाने से विपरीत है।

गोपियों के कथन का तात्पर्य यह है कि हर–महादेव द्वारा जलाया गया काम अभी तक जीवित नहीं है, तो फिर विरहाग्नि से जलाई गोपियां पुनः किस प्रकार से जीवित हो सकती हैं।

प्रथम गोपियों ने सिञ्चन द्वारा जीवन भी कहा है, किन्तु इस समय जीवन की आशा से विपरीत धर्म कहा है ।

गोपियां कहती हैं कि यदि आपकी इच्छा हमारे जीवन सम्पादन करने की हो तो फिर विरहाग्नि द्वारा दाह ही मत करो ।

यहांपर 'रह' शब्द से प्रभु का स्वरूप ही कहा है, प्रभु का स्वरूप स्वयं समर्थ है, उसमें भी कोटिकन्दर्प–काम के सौन्दर्य से भी अधिक सौन्दर्यवान् है, इसलिये, तथा विभावानुभाव आदि सामग्री विशिष्ट है, इसलिये, प्रभुस्वरूप विरह क्या-क्या नहीं कर सकता है, अर्थात् सब कुछ कर सकता है, इसी को मूल में 'तत्रापि विशिष्टो विरहः' इत्यादि से कहा है । अब गोपियां लोकप्रसिद्ध अर्थ कहती हैं, 'एकान्ता भाव रूपो वा' अथवा विरह शब्द का अर्थ एकान्त का अभाव है, 'रह' एकान्त 'वि' अभाव, एकान्त रहित-संयोग नहीं, यह है, आपके साथ एकान्त मिलता नहीं है । इसलिये विरह है ।

यदि भगवान् कहें कि गोपियो ! जब विरह मेरा रूप ही है तो विरह रूप में तो कभी भी सुख प्राप्त नहीं होगा । इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि यहां श्लिष्टार्थक विरह शब्द का प्रयोग है प्रभु शृङ्गार रस रूप हैं, शृङ्गार, संयोग, विप्रयोग उभय रूप है, इसलिये विरह प्रभु का स्वरूप ही है ।

यद्यपि श्लोक के प्रथम आधे चरण में हृच्छयाग्नि–कामाग्नि कहा है, उससे हमारा दाह संभव हो सकता है, तथापि उस अग्नि में भस्मसात् करने का सामर्थ्य नहीं है, जबतक शरीर के सर्व सूक्ष्म अवयवों में अग्नि प्रवेश करके उत्तेजित नहीं होता है, तबतक इसका प्रतीकार आपको करना चाहिये, इसी बात को गोपियां दृष्टान्त द्वारा समझाती हैं कि जिस प्रकार अग्नि सम्बन्ध से सूखा काष्ठ जलता है, कारण कि काष्ठ से उपाधि–आर्द्रता अत्यन्त चली गई है, अर्थात् अत्यन्त सूख गया है । अर्थात् जिस प्रकार अग्नि काष्ठ में प्रविष्ट होकर धीरे-धीरे काष्ठ की उपाधि–गीलेपन को दूरकर सूखा करके उस सर्व काष्ठ को जला देती है, उसी प्रकार कामाग्नि धीरे-धीरे हृदय में से सर्व शरीर के अङ्गों में विस्तृत रूप से उत्तेजित हो, आपके स्वरूप से अतिरिक्त जो अन्य में स्नेहरूप उपाधि है, उसको दूर करके, उपाधिरहित हम सब आपके चरणों में गमन करेंगी ।

इससे गोपियों ने यह भाव सूचन किया है कि उपाधि सहित स्नेह में हमारे सदृश भाव नहीं होता है, इसलिये घर को पीछे लौटकर जाना तो दूर रहा, उलटा विरहाग्नि से मरण उपस्थित हो गया है, अतः आप हमको शीघ्र ही अधरामृत से सिञ्चन करके इस अग्नि का प्रतीकार–मरण से रोकने का उपाय करें ॥ ३५ ॥

(सुबो०) किञ्च यदप्युक्तं 'अथवा मदभिस्नेहात् आगता' इति, यदस्माकं स्नेहः स्तुतः, तत्र याथार्थ्यं शृण्वित्याहुः यर्हीति ।

भगवान् ने २३ वें श्लोक में गोपियों से कहा था कि तुम सबका मुझमें स्नेह है, इसलिये तुम यहां आई हो, इस प्रकार हमारे स्नेह की आपने प्रशंसा की थी, आपके इस कथन से भी हम यथार्थ बात कहती हैं, सुनें ।

यर्ह्यम्बुजाक्ष तव पादतलं रमाया
दत्तक्षणं क्वचिदरण्यजनप्रियस्य ।
अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षमङ्गः
स्थातुं त्वयाभिरमिता बत पारयामः ॥ ३६ ॥

पदपदार्थ—(हे अम्बुजाक्ष) हे कमलसदृश नयनवाले (यर्हि) जिस क्षण में (रमायाः) लक्ष्मी को (क्वचित्) कभी (दत्तक्षणं) सुख जिसने दिया (अरण्यजनप्रियस्य) वन के रहनेवाले प्रिय जिसको (तव) उस आपका (पादतलं) प्रतिफलित चरण तल को (अस्प्राक्ष्म) स्पर्श किया है (तत् प्रभृति) उस क्षण से लेकर (त्वया) आपने (अभिरमिताः) आनन्द जिनको दिया इस प्रकार की हम गोपियां (अन्यसमक्षम्) और के सामने (अङ्गः)

समञ्जसता से यथोचित (वत) आश्चर्य है कि (स्थातुं) ठहरने को (न) नहीं (पारयामः) सकती हैं ।। ३६ ।।

भाषार्थ—हे कमलनयन ! वन में रहनेवाले प्रिय हैं जिसको इस प्रकार के भगवान् आपका प्रतिफलित पाद तल, जिससे कभी लक्ष्मी को सुख मिलता है, उस चरणतल को जिस क्षण से हमने स्पर्श किया है, और आपने आनन्द दिया है, उस क्षण से दूसरे के सामने हम यथोचित समस्तता से भी ठहर नहीं सकती हैं ।। ३६ ।।

(सुबो०) हे अम्बुजाक्ष, दृष्टचैव तापनाशक, यर्हि यस्मिन् क्षणे तव पादतलं अस्प्राक्षम तत्प्रभृति नान्यसमक्षं अञ्जः सामस्त्येनापि स्थातुं पारयामः । साक्षात् चरणस्पर्शो दुर्लभः । यत्र पुनः पादः प्रतिफलितः, तत्पादतलमुच्यते । रमापि तेनैव जीवति । तदुक्तं नागपत्नीभिः 'तवांघ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः यद्वाञ्छये'ति । अतस्तत् फलस्थानीयम् । रमायाः क्षणं सुखं तेनैव दत्तम्, कचिद् हृदये समागतम्, सुखं तत्रैव भवतीति तत्र स्पर्श एवास्माकं भूमिष्ठस्य, न तु लक्ष्मीवत हृदये तत्तलमायाति । अस्माभिर्विचारितम्, लक्ष्म्या चेदेतत्प्राप्तम्, तपसा चाञ्चल्यपरिहारेण, तदा अस्माभिरपि चाञ्चल्यपरिहारेण तन्निष्ठतया स्थातव्यम् । किञ्च, अरण्यजनाः प्रियाः यस्य । तेनापि सर्वसङ्गपरित्यागेन स्थातव्यम् । सङ्गाभाव एव भगवत्तोषहेतुरिति । अरण्यं हि सात्त्विकं वैष्णवं च । ([1]एतेन पुलिन्दीस्मारणं वा । पादतलसम्बन्धिकुंकुमसम्बन्धेनैव ता अपि प्रिया आसन्निति । तेन पादतलस्य फलपर्यवसायित्वं प्रभुप्रीतिसाधकत्वं च सहजमिति वयमप्यात्मनि तथैव जानीम इति भावः । स्फुटमिदं न वक्तुं शक्यमित्येवमुक्तम् ।) अतः त्वत्प्राप्त्यर्थं नान्यसमक्षं स्थातुं शक्नुमः । सर्वथा त्वां यो न प्रपन्नः, शक्त्यभावः तद्धर्मप्रवेशात्, यो हि यस्य घातकः तद्भावापत्तौ तस्याग्रे स्थातुं न शक्तो भवति । यथा व्याघ्राग्रे देहाभिमानी, तथा भगवदीयः, भगवद्व्यतिरिक्तो हि तद्भावं नाशयिष्यतीति । यत्रैवं सूक्ष्मेक्षिका, तत्रान्यस्य स्थाने गमनं, तस्य च देवतात्वेन भावनं दूरापास्तम् । अतः प्रीतिमात्रस्तुतिर्या सा अल्पीयसी । अनन्यभावा एव वयं लक्ष्मीवत् । किञ्च, यथा सर्वपरित्यागेन लक्ष्मीः चेत् त्वां शरणं गता, तदा त्वया अभिरमिता जाता, तथा वयमपि जाताः । सर्वदैव स्वप्ने त्वत्सम्बन्धं प्राप्नुमः । अन्यथा जीवनमेव न स्यात् । एवं भुक्तपूर्वा वयं नान्यत्र प्रेषयितुमुचिता इति ॥ ३६ ॥

हे कमल सदृश नेत्रवाले ! इस प्रकार सम्बोधन से गोपियों ने कहा है कि भगवान् के नेत्र कमल सदृश हैं, अतः आप अपनी दृष्टि से ही भक्तों का ताप नाश करते हैं ।

जिस क्षण से हमने आपके पादतल का स्पर्श किया है, उस क्षण से लेकर दूसरे के सामने समग्रता से बराबर ठहर नहीं सकती हैं, भगवान् का साक्षात् चरणस्पर्श दुर्लभ है ।

---

[1] ( ) चिह्नान्तर्गतं प्रभूणाम् ।

जिसमें चरण प्रतिफलित होता है—चरण की आकृति पृथिवी आदि में छापे की तरह उभर जाती है, उसको पादतल कहते हैं, लक्ष्मी जी भी अपने हृदय में प्रतिफलित पाद से जीती हैं, इस बात को नागपत्नियों ने कहा है कि 'तवांघ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः' 'यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाऽचरत्तपः' जिस चरण की प्राप्ति के लिये लक्ष्मीजी ने तपश्चर्या की है, उस आपकी चरणरेणु को स्पर्श करने का अधिकार काली नाग को मिला है ।

हृदय में आपका पाद स्थापन करने से चरणरेणु का स्पर्श होता है, इसलिये आपका पादतल फलरूप है, भगवान् के इसी पादतल ने लक्ष्मीजी को सुख दिया है, किसी समय भगवान् का पादतल लक्ष्मी जी के हृदय में प्राप्त हो गया था । सुख हृदय में ही होता है, हमको तो भगवान् के चरणतल का स्पर्श ही जब कभी भगवान् भूमि पर पधारते हैं, भूमि में स्थित होते हैं, तब होता है । किन्तु लक्ष्मीजी की तरह हमारे हृदय में भगवान् का चरणतल नहीं आता है, और प्रतिफलित भी नहीं होता है, कारण कि गाढ भाव से स्थापन करने में ही प्रतिफलित चरण की आकृति होती है ।

हम गोपियों ने विचार किया है कि 'भगवान् ब्रह्म कात्स्न्र्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया । तदध्यवस्यत् कूटस्थो रतिरात्मन् यतो भवेत्' ।

भगवान् ब्रह्मा ने तीन बार वेद का विचारात्मक ज्ञान तप से विचार करके यह निश्चय किया कि जिस प्रकार आत्मा—भगवान् में प्रीति हो जाये, वह प्रकार करना चाहिये । इस प्रकार रमा ने भी वेदार्थ का विचार करके निर्दोष पूर्ण गुण भगवान् ही सेवन करने योग्य हैं, और वह भगवान् निर्दोष प्राणी से ही सेवन करने योग्य हैं, इस प्रकार निश्चय करके आधिदैविक, आध्यात्मिक दोषों को त्यागकर भगवान् का ही वरण किया था 'यद्वाञ्छया श्रीर्ललना' इसमें ललना पद से स्त्री स्वभाव आधिदैविक, तथा मनोभिलाष रूप काम, आध्यात्मिक दोनों दोषों का लक्ष्मी ने त्याग कर दिया है ।

लक्ष्मी यहां पर सात्त्विकी शक्ति दोनों श्लोकों में कही गयी हैं, ब्रह्मानन्दरूपा शक्ति नहीं कही गयी हैं, कारण कि ब्रह्मानन्द रूप लक्ष्मी को इस प्रकार के शरीर की अपेक्षा नहीं होती है, इसका स्वरूप द्वितीयस्कंध नवम अध्याय में कहा गया है, जब कि लक्ष्मी ने कामत्यागरूप तप से चंचलता दूर कर आपका चरणतल प्राप्त किया है, अतः हमको भी चञ्चलता दूर करके और कामत्याग करके भगवान् के चरणतल में निष्ठा करके रहना चाहिये । भगवान् के चरण में जो रहता है, वह भगवान् को प्रिय होता है, इस बात को गोपियां कहती हैं कि 'अरण्यजन प्रियस्य' अरण्यजन—पुलिन्दी जनप्रिय हैं जिसको, भगवान् को अरण्यजन—वनवासी प्रिय हैं, इस कारण से भी हमको सर्वसङ्गपरित्याग करके वन में ही रहना चहिये । कारण कि सङ्गाभाव—भगवान् से अतिरिक्त अन्य पदार्थों में आसक्ति नहीं करने से भगवान् प्रसन्न होते हैं ।

यदि कहो कि वन में रहनेवाले भगवान् को प्रिय क्यों होते हैं ?

तब इस प्रकार की अपेक्षा में गोपियां कहती हैं कि वन सात्त्विक तथा वैष्णव है, अर्थात् भगवत्प्राप्ति करानेवाला भगवदीय है, अतः भगवान् को वन प्रिय लगता है ।

गो० श्रीविट्ठलनाथ जी स्वतन्त्र लेख में कहते हैं कि 'अरण्यजन' पद से पुलिन्दीजन का स्मरण कराया है, कारण कि भगवान् के पादतल सम्बन्धी कुंकुम के सम्बन्ध से ही पुलिन्दीजन भगवान् को प्रिय हुए थे, इसलिये भगवान् का पादतल स्वभाव से फल देनेवाला, तथा प्रभु में प्रीति साधन करनेवाला है, अतः हम भी पुलिन्दीजन की तरह भगवान् की प्रिया हैं, इस प्रकार का भाव अपने में जानती हैं, अर्थात् भगवान् ने चरणतल की कुंकुम से जिस प्रकार पुलिन्दी जन का मनो-

रथ सिद्ध किया, उसी प्रकार हम भी अपने लिये कृतार्थ मानती हैं, यहां गोपियों ने पहिले किये हुए रमण की बात स्पष्ट शब्दों में नहीं कही है, कारण कि गुप्त बात संकेत से ही कही जाती है, इस लिये परोक्ष प्रकार से यहां 'अरण्यजन प्रियस्य' इसके द्वारा कही है ।

गोपियां कहती हैं कि आपको अरण्यजन प्रिय हैं, इसलिये हम सब भी आपकी प्राप्ति के लिये वन में आई हैं, अन्य के सामने ठहर नहीं सकती हैं, कारण कि जो मनुष्य आपकी सर्वथा शरण नहीं आया है, उसके सामने हम ठहर नहीं सकती हैं, हममें ठहरने की शक्ति का अभाव है, कारण कि हममें भगवद्धर्म का प्रवेश हो गया है, जो एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का घातक–नाश करनेवाला है, उस घातक पदार्थ के आगे प्रथम पदार्थ ठहर नहीं सकता है, अर्थात् जो भाव देहका घातक है उसके आनेपर देह ठहर नहीं सकती है, देह का नाश होनेपर प्रथम अभिमत आत्मा का देवदत्तत्व निवृत्त हो जाता है, और आत्मा को देह की प्राप्ति तो भगवदीय जीवमें जिस समय भगवत्व–भगवद्भाव प्राप्त हो जाता है, उस समय निवृत्त हो जाती है, अर्थात् 'जीवेऽन्तःकरणे चैव' इस न्याय से 'भगवान् मैं ही हूं' इस प्रकार अति विगाढ भाव प्राप्त होने पर आत्मा में देहभावठहर नहीं सकता है ।

उसी प्रकार जो भगवदीय नहीं है, भगवान् की शरण नहीं गया है, वह भगवद्भाव का नाश ही करेगा, यदि उसका संसर्ग हो जायगा तो ?

जहां पर इस प्रकार की सूक्ष्म दृष्टि से विचार है, वहां पर फिर अन्य—गोप आदि के स्थान में जाना, और अन्य देवताओं के स्थान में जाना, उनको देवता मानकर भावना करने की बात तो दूर से ही निरस्त हो गई है, अतः आपने हमारी प्रीतिमात्र की जो २३ वें श्लोक में स्तुति की है, वह अत्यन्त अल्प–तुच्छ है, हम तो लक्ष्मीजी की तरह अनन्य भाववाली हैं ।

जिस प्रकार सर्वपदार्थ का परित्याग कर लक्ष्मीजी आपकी शरण में प्राप्त हुई हैं, आपने उनके साथ रमण किया है, उसी प्रकार हमारे साथ में भी आपने रमण किया है ।

मूल में 'त्वयाभि रमिताः' इस पद से यह सूचन किया है कि सर्वदा ही आपका सम्बन्ध हमको स्वप्न में प्राप्त होता है, नहीं तो अभीतक हमारा जीवन नहीं रहता ।

गोपियां कहती हैं कि इस प्रकार हम भुक्तपूर्वा हैं, पहले आपने हमारा भोग किया है इसलिये अन्यत्र—अन्य के पास में, स्थान में या आपके भेजने योग्य हम नहीं हैं ॥ ३६ ॥

(सुबो०) ननु तस्या दैवगत्या सम्बन्ध आसीत्, स च प्राथमिकः, भवतीनां तु प्रथमतोऽन्यत्रैव सम्बन्धः, अतो वैषम्यमिति चेत्, तत्राहुः श्रीरिति ।

यदि भगवान् कहें कि लक्ष्मी का सम्बन्ध मुझसे दैवगति से हुआ है, और वह सम्बन्ध प्रथम ही हुआ है, तुम सबका तो प्रथम सम्बन्ध अन्यत्र— गोपों के साथ में हो चुका है, इसलिये लक्ष्मी और तुममें विषमता है, सदृशता नहीं है । इसके उत्तर में गोपियां आगे श्लोक में कहती हैं ।

श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या
लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम् ।
यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयास-
स्तद्वद्वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः ॥ ३७ ॥

पदपदार्थ—(श्रीः) लक्ष्मी (वक्षसि) हृदय में (पदं) स्थान को (लब्ध्वा) प्राप्त करके (अपि) भी (तुलस्या) तुलसी के साथ (भृत्यजुष्टम्) भक्तों द्वारा सेवित (यत्पदाम्बुजरजः) जिस आप भगवान् के चरणकमल की रेणु को (चकमे) प्राप्ति की इच्छा करती हुई (यस्याः) जिस लक्ष्मी के (स्ववीक्षणकृते) अपनी तरफ देखने के लिये (अन्यसुरप्रयासः) अन्य ब्रह्मादि देवताओं का प्रयास है (तद्वत) लक्ष्मी की तरह (वयं च) हम सब (तव) आपकी (पादरजः) चरणरज को (प्रपन्नाः) प्राप्त हुई हैं ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—जिस लक्ष्मी को अपनी तरफ देखने के लिये अन्य ब्रह्मादि देवताओं का प्रयास है, वह लक्ष्मी आपके वक्षस्थल में स्थान प्राप्त करके भी तुलसी के साथ भक्तों द्वारा सेवित जो आपके चरण कमल की रज है, उसको प्राप्त करने की इच्छा करती हुई, उसी प्रकार हम आपकी चरणरज को प्राप्त हुई हैं ॥ ३७ ॥

(सुबो०) लक्ष्मीरपि न दैवगत्या भवन्तं प्राप्तवती, किन्तु त्वच्चरणारविन्दार्थं महत्तपः कृतवती । सा न स्त्रीत्वेन तदीया, किन्तु भक्तत्वेन, अन्यथा वृक्षसि स्थलं प्राप्य स्वतन्त्रम्, तुलस्या सह सापत्न्यमप्यङ्गीकृत्य, चरणरजो न कामयेत् । चरणरजस्तुलस्या भवति, भक्ता हि भक्ते । तदुपपादितं प्रथमस्कंधे । तस्य रजसः माहात्म्यमाह भृत्यजुष्टमिति । तद्रजसैव भृत्यानां शरीरोत्पत्तेः । किलेति प्रसिद्धिः । सर्वं एव भक्ताः त्वच्चरणरजसैव सम्पादितदेहवन्तः । अतस्तुलसी तत्र भक्तिरूपा प्रतिष्ठिता । तद्रजःप्राप्तिर्येषाम्, ते त्वत्सेवका एव भवन्ति । अतो लक्ष्मीः, अन्तःकरणे स्थानं प्राप्यापि, अन्यः स्प्रक्ष्यतीति चिन्तया रजश्चकमे । तस्मिन् प्राप्ते तु न शङ्कापि । ननु किमेतावद्भयं लक्ष्म्याः, तत्राहुः । यस्याः स्ववीक्षणकृते अन्यसुरप्रयासः । अन्ये सर्वं एव ब्रह्मादयो देवाःतपः कुर्वन्ति, 'लक्ष्मीरस्मान् पश्यत्वि'ति । अन्यथा तेषां कोऽपि पुरुषार्थो न सिध्येदिति अतो बहुभिः प्रार्थ्यमाना भीता जाता । कश्चिदत्यन्तमपि तपः कुर्यात्, स, को वेद, किं कुर्यादिति । रजःकामनायां तु नेयं शङ्का । प्राप्तौ तु सन्देह एव न भवति । एवं चरणरजःप्राप्तौ अनन्यगामित्वं निरूप्य स्वस्य तथात्वमाहुः तद्वद्वयं चेति । अस्मानपि बहवः प्रार्थयन्ति, तद्भयादेव पूर्वं चरणरजः स्पृष्टम्, ततो देहोऽपि तच्चरणरजसा समुद्भूत इति सर्वथा तव पादरजः प्रपन्नाः । चकारात् या अपि साम्प्रतं नागताः । या वा महिष्यः, ता एतादृशशरीरयुक्ता एव । अतोऽस्मदर्थं एव समागतो भवान् । नात्मानं गोपय । नापि गुप्तः स्थास्यसि । तस्मान्नाग्रहः कर्तव्य इति भावः ॥ ३७ ॥

गोपियां कहती हैं कि लक्ष्मीजी भी दैवगति से आपको प्राप्त नहीं हुई है किन्तु आपके चरणारविन्द की प्राप्ति के लिये लक्ष्मी ने महान् तप किया था, लक्ष्मी ने आपके साथ सम्बन्ध स्त्री बनकर नहीं किया था, किन्तु भक्त बनकर किया था, इसलिये लक्ष्मी स्त्रीत्व से आपकी नहीं

हैं, भक्त हैं। यदि भक्त बनकर लक्ष्मी का सम्बन्ध आपसे नहीं होता तो वक्षस्थल में स्वतन्त्र स्थान प्राप्त करके भी तुलसी के साथ सापत्न्यभाव–सौतभाव स्वीकार कर लक्ष्मी, आपकी चरणरज की कामना नहीं करतीं।

यदि कहो कि लक्ष्मी और तुलसी का एक पति है, इसलिये सापत्न्यभाव सब लोग जानते ही हैं, फिर सापत्न्यभाव स्वीकार करके भक्त नहीं होतीं तो चरणरज की कामना नहीं करें, इत्यादि आप क्यों कहती हो। इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि यद्यपि सब लोग दोनों का एक पति जानते हैं, तथापि 'श्रीविष्णुपद्यामनुजस्तुलस्या' इत्यादि वाक्य में तुलसी का भगवान के चरणकमल के साथ सम्बन्ध प्रसिद्ध है, इसलिये चरणरज भी सम्बन्ध निकट होने से तुलसी को प्राप्त होती ही है और लक्ष्मी भक्तिरूप-पादसेवनरूप भक्ति की भक्त हैं 'या वैलसच्छ्रीतुलसीविमिश्र पादाब्जरेण्वभ्यधिकाम्बुनेत्री' इसमें इस प्रकार कहा है कि लक्ष्मीजी नित्य भगवान् की पूजा करते के समय चरणारविन्द में तुलसी समर्पण करती हैं, इस प्रकार भागवत प्रथम स्कन्ध अ० १९ श्लोक ६ में कहा है, इसलिये प्रथम सपत्नी भाव होने पर भी विषय भेद से सपत्नी भाव उत्पन्न नहीं होता है। और चरणरज की कामना में तो सपत्नी भाव होता ही है, इसलिये यहां 'वक्षसि-स्थलं प्राप्य स्वतन्त्रं तुलस्या सह सापत्न्यमप्यङ्गीकृत्य चरणरजो न कामयेत्' इस प्रकार कहा है।

अब गोपियां भगवान की चरणरज का माहात्म्य वर्णन करती हैं, 'भृत्यजुष्टम्' सेवकों द्वारा चरणरज सेवित है, भगवान की चरणरज की ही सेवा करने वालों के शरीर की उत्पत्ति होती है, यह प्रसिद्ध है, सभी भक्त आपकी चरणरज से संपन्न देहवाले होते हैं, इसलिये भगवान के चरणकमल में तुलसी भक्तिरूप प्रतिष्ठित है।

जिनको आपकी चरणरज की प्राप्ति है, वे आपके सेवक ही होते हैं, अर्थात् वे आपकी सेवा करते हैं। उनको अन्य सम्बन्ध नहीं होता है, इसलिये हमको भी पति आदिका अन्य सम्बन्ध नहीं है, इसी बात को 'क्वेमाः स्त्रियः' इस श्लोक में आगे कहेंगे, अतः लक्ष्मी अन्तःकरण में स्थान प्राप्त करके भी, 'कहीं मुझको कोई अन्य-अभक्त स्पर्श कर लेगा' इस चिन्ता से आपकी चरणरज की कामना करती हुई। आपकी चरणरज प्राप्त होने पर फिर लक्ष्मी को अन्य-अभक्त द्वारा स्पर्श करने की शंका भी नहीं होती है।

यदि कहो कि लक्ष्मी जी को इतना भय क्यों लगता है, इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि जिस लक्ष्मी को अपनी तरफ देखने के लिये अन्य सभी देवताओं का प्रयास है, सभी ब्रह्मादि देवता तप करते हैं, और कहते हैं कि हे लक्ष्मी जी हमारी तरफ देखो! कारण कि लक्ष्मी जी के देखे विना कोई पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता है, इसलिये बहुत से लोगों की प्रार्थना को देखकर लक्ष्मी अन्य स्पर्श से डरती हैं, और विचार करती हैं कि इस बात को कौन जानता है कि कभी कोई अत्यन्त तप करके क्या करे, कहीं मुझको प्राप्त न कर ले, इस विचार से भगवान् की चरणरज की प्राप्ति की कामना करती हैं।

चरणरज की प्राप्तिकामना में तो किसी प्रकार का संदेह ही नहीं होता है, कारण कि सबको इस प्रकार का ज्ञान होता है कि लक्ष्मी अनन्यगामी हैं, अर्थात् भगवान् के अतिरिक्त अन्य पुरुष के पास जाने वाली नहीं हैं, इस लिये विपरीत निश्चय से लक्ष्मी के लिये कोई यत्न नहीं करते हैं, अतः चरणरजप्राप्ति में लक्ष्मी को अन्य स्पर्श की शंका नहीं रहती है। (लोक में भी पतिव्रता स्त्री को जानकर परपुरुष उससे सम्बन्ध करने का प्रयत्न भी नहीं करता है)

लेखकार मूल सुबोधिनी में 'प्राप्तौ संदेह एव भवति' इस प्रकार पाठभेद भी मानते हैं, लक्ष्मी की प्राप्ति में सन्देह ही होता है, इसलिये अन्य पुरुष निश्चय के अभाव से यत्न भी नहीं करते हैं, इस प्रकार अर्थ है।

इस प्रकार गोपियां लक्ष्मी को अनन्यगामी कहकर अपने को भी अनन्यगामी कहती हैं 'तद्वद्वयं च' जिस प्रकार लक्ष्मी की प्राप्ति की इच्छा बहुत से करते हैं, उसी प्रकार हम गोपियों की भी बहुत गोप प्रार्थना करते हैं।

श्रुतिरूपाओं के अभिप्राय से तत्तन्मन्त्रों के अभिमानी देवता श्रुतियों पर अपना अपना स्वामित्व मानते हैं, इसलिये मंत्राभिमानी देवताओं के भय से हमने पहले आपकी चरणरज का स्पर्श किया था, कारण कि रज प्राप्त होनेपर देवगामित्व होता नहीं है। हमारी देह भी आप की चरणरज से उत्पन्न हुई हैं, इसलिये सर्वथा आपकी चरणरज प्राप्त हुई है।

मूल में 'तद्वद्वयं च' इसमें 'च' है, इसका अर्थ इस प्रकार है कि जो गोपियां इस समय यहां नहीं आई हैं, अथवा जो महिषी–आपकी रुक्मिणी आदि हैं, उनका शरीर भी आपकी चरणरज से उत्पन्न हुआ है। यहां 'महिष्यः' कहने से यह भी सूचित होता है कि जिनको अष्टावक्र ऋषिका प्रसाद, तथा शाप हुआ है, उनका यहां महिषियों में ग्रहण नहीं किया है।

अब गोपियां कहती हैं कि आप हमारे लिये ही पधारे हो, अपने स्वरूप को छिपाओ नहीं, कारण कि आप गुप्त भी नहीं रह सकते हो, इस लिये हमारे लिये घर भेजने का आग्रह आपको नहीं करना चाहिये, यह भाव है ॥ ३७ ॥

(सुबो०) एवं स्वस्य भगवदेकभोग्यशरीरत्वमुपपाद्य प्रार्थयन्ति तन्न इति।

इस प्रकार गोपियां अपना शरीर एक भगवान के ही भोग्य है, प्रतिपादन करके आगे भगवान् से प्रार्थना करती हैं।

तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलं
प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः।
त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकाम-
तप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम् ॥ ३८ ॥

पदपदार्थ—(तत्-तस्मात्) इस कारण से (हे वृजिनार्दन) हे दुःख उत्पन्न करने वाले पापों के नाश करने वाले (नः) हमारे सबके ऊपर (प्रसीद) प्रसन्न हो जाओ (वसतीः) गृहस्थाश्रम को (विसृज्य) त्याग करके (तदुपासनाशाः) आपका सेवन करने की आशा वाली हम सब (ते) आपके (अंघ्रिमूलं) चरण मूल को (प्राप्ताः) प्राप्त हुई हैं; (हे पुरुषभूषण) हे पुरुषों के भूषण (त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकामतप्तात्मनां) आपके सुन्दर मंदहासयुक्त निरीक्षण से उत्पन्न तीव्र काम से तप्त अन्तःकरण वाली सब गोपियों को (दास्यम्) दास्य को (देहि) दो ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—हे दुःख उत्पन्न करने वाले पापों का नाश करने वाले आप हमारे ऊपर प्रसन्न हो जाओ, हम गृहस्थाश्रम त्याग करके आपका सेवन करने की आशावाली आपके चरण-मूल को प्राप्त हुई हैं, हे पुरुषों के भूषण, आपके सुन्दर मंद हासयुक्त निरीक्षण से उत्पन्न तीव्र काम से तप्त अन्तःकरण वाली हम गोपियों को दास्य प्रदान करो ॥ ३८ ॥

(सुबो०) पूर्वश्लोकेनैव भर्तृशुश्रूषणविधिर्निराकृतः । तदपरित्यागः सुतरामेव तेनैव निराकृतो भवति । अनेनापि निराकरणं प्रार्थयन्ति । भगवत्कृपाभावे तादृशेनैव सम्बन्धो भवेदिति, कृपा हि सर्वतोऽधिका, तत्तस्मात् कारणात् प्रसीद, प्रसन्नो सव, त्वयि प्रसन्ने सर्वं सेत्स्यतीति । ननु भवतीनां प्रतिकूलमदृष्टं दुःखप्रापकमस्ति, अतः कथं प्रसाद इति चेत् , तत्राहुः वृजिनार्दनेति । वृजिनं दुःखजनकं पापम्, स्वभावत एव सर्वेषां येन केनापि सम्बन्धेन तदर्दयसि । प्रसादे हेतुमाहुः तेंघ्रिमूलं प्राप्ता इति । यस्तु चरणतलं प्राप्नोति, स प्रसादमपि । स च प्रसादः पशुपुत्रादिरूपो मा भवत्विति स्वाधिकारमन्येभ्यो व्यावर्तयन्ति विसृज्य वसतीरिति । गृहस्थाश्रमस्त्यक्तः, न तु गृहमात्रमिति वसतीरिति बहुवचनम् । परित्यागेऽपि हेतुमाहुः त्वदुपासनाशा इति । त्वत्सेवां करिष्याम इति आशामात्रेणैव पूर्वसिद्धं त्यक्तम् । तत्र समागतानां पुनर्गृहसम्बन्धे किं वक्तव्यमिति । अतो देवं प्रार्थयन्ति त्वत्सुन्दरेति । तव सुन्दरं यत्स्मितं मोहकमप्यानन्दजनकं त्वत्सम्बन्धात् परमानन्दरूपं तादृशस्मितपूर्वकं यन्निरीक्षणं, तेन जातः तीव्रो यः कामः, तेन तप्तान्तःकरणानां अस्माकं, पुरुषाणां भूषणरूप, अनन्तकोटिकंदर्पलावण्यरूप, स्वतः पुरुषार्थरूपमेव दास्यं देहि ([1]अधिकारिभेदेन दास्यस्यानेकविधत्वाद्देयं रूपं स्वतापोक्त्या व्यज्यते । उक्तविशिष्टानां यदेतत्तापनिवर्तकं तदिति । किञ्च, प्रभोरपेक्षितवस्तुसमर्पणे हि दास्यं भवति, न त्वन्यथा । एवं सति यथास्माकमुक्ततापेन प्रचुरा त्वदपेक्षा, तथा तवास्मदपेक्षायां स्वयमुद्यम्यास्मदुपयोगः कार्यं इत्यर्थः पर्यवस्यति । अन्यथा दास्यस्य कृतिसाध्यत्वेन दानोक्तिरनुपपन्ना स्यात् । अत एव तथा सम्बोधनं पुरुषो भूत्वा भूषणरूपेति । तद्धि कण्ठादिषु सर्वेष्वङ्गेषु भवति । त्वमपि तथा भूत्वादास्यं देहीति वाक्यैकवाक्यतया प्राप्यते । भूषणत्वोक्त्यैव स्वतन्त्रपुरुषार्थताप्युक्ता । मणिखचितं तद्विभूषणत्वसम्पत्त्यर्थं मध्ये लाक्षावदपि भवति । तेन महानपि तद्धारणार्थं लाक्षामपि धारयति, तुच्छामपि, तथा मध्ये कामोपयोग इति न तदुपाधिकृतं दास्यवरणम् , अपितु तद्विपरीतप्रीतिभावः ।) अतो दास्यार्थिन्य एव वयम्, न तु विवाहार्थिन्यः । अत उपनयनाद्यपेक्षापि न लोकव्यवहारेण कर्तव्येति भावः ॥ ३८ ॥

प्रथम श्लोक से ही पतिसेवा विधि का निषेध कर दिया है और प्रथम श्लोक से ही यह भी निर्णय कर दिया है कि वास्तव पति का त्याग नहीं करना चाहिये, लौकिक का त्याग करना

चहिये, अब आगे के श्लोक में भी गोपियां, जो भगवान् ने लौकिक पतिका त्याग नहीं करना चाहिये, कहा है, उसीके निराकरण की प्रार्थना करती हैं ।

भगवान् की कृपा विना तादृश लौकिक पति के ही साथ सम्बन्ध होता है, अतः भगवान् की कृपा सर्वप्रमाणों से अधिक है, कारण कि अन्तरङ्ग धर्म है, इसलिये सर्व से आधिक्य युक्त ही है, अब आप सर्वोपरि आप की कृपा होने से हमारे ऊपर प्रसन्न हो जाओ, आपके प्रसन्न होने पर सर्व कार्य सिद्ध हो जायेगा ।

यदि आप कहो कि इस समय तुम्हारा हमारी कृपासे प्रतिकूल अदृष्ट दुःख देने वाला है, अतः मैं प्रसन्न कैसे हो सकता हूं ।

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि 'हे वृजिनार्दन' आप वृजिन-दुःखजनक पाप का नाश करने वाले हो, आपका स्वभाव ही है, कि जिस अपने स्वभाव से किसी भी कामादिभाव सम्बन्ध होने पर सर्व का सर्व पाप नाश करते हो, अतः आपके प्रसाद में अदृष्टादि प्रतिबन्ध नहीं करते हैं ।

अब गोपियां भगवान् के प्रसाद में कारण कहती हैं, 'तेऽङ्घ्रिमूलं प्राप्ताः' हम सब आपके चरणमूल में प्राप्त हुई हैं, जो पुरुष भगवान् के चरणतल को प्राप्त हो जाता है, वह आपके प्रसाद को भी प्राप्त होता है, हम आपसे पशु-पुत्रादि रूप प्रसाद नहीं चाहती हैं, इसी बात को ज्ञापन करने के लिये गोपियां अपना अधिकार-योग्यता प्रसाद में अन्यों की अपेक्षा भिन्न कहती हैं कि 'विसृज्य वसतीः' हम सब गृहस्थाश्रमका त्याग करके आपके समीप आई हैं । हमने केवल गृह मात्र का त्याग नहीं किया है, किन्तु 'वसतीः' इस प्रकार यहां बहुवचन का प्रयोग होने से गृहस्थाश्रमका त्याग कहा है ।

गृहस्थाश्रम के परित्याग में भी गोपियां हेतु कहती हैं कि 'त्वदुपासनाशाः' आप भगवान् की सेवा करने की आशामात्र से ही पूर्व सिद्ध गृह आदि सर्व पदार्थों का हमने त्याग किया है ।

उसमें भी आप के चरणकमल के मूल में प्राप्त हुई हैं, फिर हमारा गृह से सम्बन्ध कैसे हो सकता है, अब आगे घर जाने के विषय में कुछ भी वक्तव्य नहीं है, अतः गोपियां देय-देने योग्य वस्तु की भगवान् से प्रार्थना करती हैं कि 'त्वत्सुन्दर' आपका सुन्दर स्मित-मोह करने वाला भी आनन्दजनक-उत्पन्न करने वाला है, आपके सम्बन्ध से परमानन्द रूप है, इस प्रकार का स्मित पूर्वक जो निरीक्षण, उस निरीक्षण से उत्पन्न तीव्र जो काम, उस काम से तप्त अन्तःकरण वाली हम गोपियों को हे पुरुषों के मध्य में भूषण रूप-पुरुषों के भूषण अनन्तकोटि कन्दर्प-कामदेव के सौन्दर्य रूप, स्वतः पुरुषार्थ रूप दास्य का दान करो !

दास्य के स्वरूपादिविषय में टिप्पणी आदि सहित स्वतन्त्र लेख का भाव कहते हैं कि दास्य के भी अधिकारियों के भेद से अनेक भेद हैं, अतः गोपियां कहती हैं कि हमारा अन्तःकरण कामाग्नि से तप्त हो रहा है, इस प्रकार कथन से गोपियों ने देने योग्य दास्य का स्वरूप बतलाया है, अर्थात् जिस दास्य से कामाग्नि से तप्त अन्तःकरण का ताप दूर हो जाये, उस दास्य का दान करो ।

जो वस्तु प्रभुको अपेक्षित होती है, उस वस्तु को प्रभु के लिये समर्पण करने से दास्य सिद्ध होता है, अन्य प्रकार से सिद्ध नहीं होता है ।

जिस प्रकार हमको पूर्व कथित ताप के कारण आप की अत्यन्त अपेक्षा है, उसी प्रकार आपको हमारी अपेक्षा में स्वयं उद्यम करके हम सबका उपभोग करना चाहिये, इस प्रकार का

---

[1] ( ) चिह्नान्तर्गतम् प्रभूणाम् ।

अर्थ पर्यवसान में होता है, नहीं तो दास्य को कृति साध्यत्व होने के कारण यहां दान कथन अयुक्त हो जायेगा, अतः 'पुरुषभूषण' सम्बोधन, पुरुष होकर आप भूषण रूप हो, कहा है, भूषण कण्ठादि सर्व अङ्गों में धारण होता है, आप भी सर्व अङ्गों में भूषण रूप होकर हमको दास्य दान करो।

इस प्रकार का अर्थ वाक्य की एकवाक्यता करने पर प्राप्त होता है, भूषणत्व कथन से ही दास्य को स्वतन्त्र पुरुषार्थरूपता भी कह दी है, मणि से जड़ी वस्तु भूषण रूप होने के लिये मध्य में लाख युक्त भी होती है, अतः जिस प्रकार महान् पुरुष भी भूषण धारण करने में तुच्छ लाख को भी साथ में धारण करता है, उसी प्रकार मध्य में तुच्छ काम का उपयोग है, अर्थात् जैसे महान् पुरुष भूषण धारण करने के लिये लाख को भी धारण करता है, वैसे कण्ठादि में आपको धारण करने के लिये हम लाख की तरह तुच्छ काम को धारण करती हैं, कारण कि जिस प्रकार लाख बिना जड़ा हुआ भूषण धारण नहीं होता है, उसी प्रकार काम के अभाव में भोग भोगना भी असंभव होता है, तो फिर भूषणरूप आपको धारण करना भी नहीं हो सकेगा, अतः भूषण में लाख की तरह मध्य में काम का उपयोग है। कामोपाधिकृत दास्य वरण नहीं है, अर्थात् हम आपसे जिस दास्य का वरण करती हैं, वह कामोपाधियुक्त नहीं है। किन्तु कामोपाधि से विपरीत-निरुपधि शुद्ध है, यह भाव है।

गोपियां कहती हैं, कि इसलिये हम दास्य की अपेक्षा करने वाली हैं, विवाह की अपेक्षा करने वाली नहीं हैं, अतः हमको दास्य दान करने में लोकव्यवहार से उपनयन, समावर्तन आदि संस्कारों की भी अपेक्षा कर्तव्य नहीं है, यह भाव है॥ ३८॥

(सुबो०) ननु भवतीनां सर्वासामेव दास्यवरणे को हेतुः, सालोक्यादेरपि फलस्य विद्यमानत्वात्, तत्राहुः वीक्ष्यालकावृतमिति।

यदि भगवान् गोपियों से कहें कि तुम सभी को दास्य वरण करने में क्या कारण है, सालोक्यादि अन्य फल भी तो विद्यमान हैं, उनमें से किसी को जिसकी लेने की इच्छा हो, उसको ले लो। इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं।

वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्रि
गण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम्।
दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य
वक्षः श्रियैकरमणं च भवाम दास्यः॥ ३९॥

पदपदार्थ—(तव) आपके (अलकावृत मुखं) अलकों से आवृतमुख को (वीक्ष्य) देखकर (कुण्डलश्रि) दोनों कुण्डलों से शोभा जिसकी अथवा कुण्डलों में शोभा जिससे (गण्डस्थलाधरसुधं) दोनों गण्डकपोलस्थलरूप विशाल और अधर में सुधा जिसमें (हसितावलोकम्) हसितपूर्वक अवलोक जिसमें इस प्रकार के मुख को देखकर, (दत्ताभयं) दिया है अभय जिसने, (भुजदण्डयुगं) भुजदंडयुग को (विलोक्य) देखकर (श्रियैकरमणं) लक्ष्मी का एक रमण जिसमें, (वक्षः) वक्षस्थल को देखकर (दास्यः) हम दासियां (भवामः) होती हैं॥३९॥

भाषार्थ—अलकों से आवृत तथा कुण्डलों से शोभित गण्डस्थल रूप विशाल और अधर में सुधा वाला एवं हास्य सहित अवलोकन वाला आपका श्रीमुख देखकर, तथा अभय देनेवाले दोनों भुजदण्डों को देखकर तथा लक्ष्मी का ही एक रमण जिसमें इस प्रकार के वक्षस्थल को देखकर हम आपकी दासी होती हैं॥ ३९॥

(सुबो०) अनेन लोकेप्सायां पतिनं त्यक्तव्य इत्यत्रोत्तरमुक्तम्। लोके हि पुरुषार्थत्रयम्। चतुर्विधो मोक्षः। इन्द्राद्यैश्वर्यभावेन स्वर्गप्राप्तिः। इह लोके परमा लक्ष्मीः। तदत्र त्रयमपि दास्ये सर्वोत्कृष्टमस्तीति तदुपपादयन्ति। प्रथमं सारूप्यं सालोक्यं सामीप्यं सायुज्यमिति मोक्षभेदाः ते दास्याग्रे अप्रयोजकाः। यतो मुखारविन्ददर्शनेन ते कामा निवर्तन्ते इति भक्तिरूपमुखारविन्दस्य तदपेक्षयोत्कृष्टधर्मवत्त्वं निरूप्यते। अलकाः सारूप्यमिव प्राप्ता भ्रमराः। ते बहव एवात्र आवृत्य मुखं तिष्ठन्ति। अतः सारूप्यं गतानामपि यदि भक्तिशेषत्वम्, तदा किं सारूप्येन। किञ्च, मुखं कुण्डलश्रि, कुण्डलाभ्यां श्रीर्यस्य, कुण्डलयोर्वा श्रीर्यस्मात्। सामीप्ये हि नैकट्यं भवति। अत्यन्तसामीप्यं जायमानमपि कुण्डलादप्यधिकं न भविष्यति। ते चेत्सोख्ययोगरूपे भगवत्प्रमाणावलम्बिनी भगवदधीनगतिमती पुनर्भगवन्मुखनिरीक्षके, तदा किं सामीप्येन। किञ्च, गण्डस्थलाधरसुधमिति। गण्डौ स्थलरूपौ विशालौ। स्थले हि रसः पातुं शक्यत इति। अधरे च सुधा यस्मिन्। गण्डस्थले स्थित्वा अधरसुधा पातुमत्र शक्येति। सालोक्ये हि आनन्दमात्रमक्षरामृतपानं च। अक्षरापेक्षयापि गण्डस्थले स्थितिः चुम्बनाद्यर्थमुत्तमा। अधररसश्च अक्षररसादुत्तम इत्युक्तम्। कुण्डलश्रीयुक्तं गण्डस्थलमित्यस्मिन् पक्षेऽपि सामीप्यात् भक्तौ शास्त्रीयो रसः अधिको निरूपितः, परस्परं त्वद्गुणवादरूपः। अक्षरादाधिक्यं तु अधररसे स्पष्टमेव। किञ्च, हीसतावलोकमिति। हसितपूर्वकमवलोको यस्मिन्। ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानां न भक्तिविलासः। हासो हि सर्वरसोद्बोधरूपः। ज्ञानं चाविर्भूतम्। ब्रह्मानन्दे तु द्वयमप्यव्यक्तम्, जले निमग्नस्य जलपानवत्। अनुभवरसो हि भिन्नतया स्थितौ भवति। अतो भक्तिरूपमुखस्य दृष्टत्वात् दास्यमेव फलम्, न मोक्षः। भुजदण्डयुगं च विलोक्य इन्द्रादिभावेनापि स्वर्गो न प्रयोजक इति निरूपयन्ति दत्ताभयमिति। स्वर्गे इन्द्रः परमकाष्ठां प्राप्तः। तेऽपि दैत्येभ्यो निरन्तरं भीताः इन्द्रादयः। तेषामप्यभयदातृ भगवतो भुजदण्डयुगलम्। तच्चेदत्रैवास्ति, तत्परित्यज्य किमिन्द्रत्वेन। चकारात् न केवलमभयमात्रं प्रयच्छति, किन्तु क्रियाशक्त्या यज्ञादिना हविरपि प्रयच्छति। यथाग्रे इन्द्रः स्वाधिकारसमाप्तौ मुक्तो भवति। दण्डपदेनानुल्लंघ्यशासनत्वमुक्तम्। उभयत्र च दण्डो युगपदेन निरूपितः। ततो हि सर्वथा दैत्यनाशो भवति। किञ्च, वक्षोऽपि विलोक्य। लोकानां श्रिया रमणं भवति। श्रीरपि

तत्र रमते । चकाराद्धर्मस्यापि । अतो दास्य एव भवामः । ‘[१]अत्र वीक्षणस्य दासीभवनहेतुत्वौक्त्या यत्रायं भावो नास्ति, तेषां नैतद्वीक्षणमस्ति, विधिप्रयुक्तत्वाभावेन तद्विपरीतविध्यनङ्गीकारश्च युक्त इति ज्ञाप्यते । यदप्युक्तं भगवता ‘अस्वर्ग्यं’ मित्यादि स्वभजने दोषषट्कम्, तदपि षड्भिर्गुणैर्निवारितम् । न हि परमपुरुषार्थसाधकं पापं भवति । फलत एव पापस्य निन्द्यमानत्वात्’ ॥ ३९ ॥

इस लोक में तथा परलोक में जिसको कीर्ति आदि की अपेक्षा हो, उस स्त्री को अपने पति का त्याग नहीं करना चाहिये, यह भगवान ने पच्चीसवें श्लोक में कहा था, इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि लोकेप्सा—लोक की इच्छा तो यहां पर ही विशेष रूप से सिद्ध होगी।

अब गोपियां विशेष लोकेप्सासिद्धि में कारण कहती हैं कि लोक में तीन पुरुषार्थ हैं, अर्थात् पुरुष प्रीति मोक्ष आदि तीनों के साधन तीन हैं, उसमें चार प्रकार का मोक्ष एक पुरुषार्थ है, इन्द्रादि ऐश्वर्य भाव से स्वर्गप्राप्ति द्वितीय पुरुषार्थ है, और इस लोक में परम लक्ष्मीप्राप्ति तीसरा पुरुषार्थ है ।

उक्त तीनों प्रकार के पुरुषार्थों से भगवान् का दास्य सर्वोत्कृष्ट-सर्व से उत्तम है, सर्व से उत्तम का प्रतिपादन गोपियां करती हैं कि १ सारूप्य, २ सालोक्य ३ सामीप्य, ४ सायुज्य—ये चार प्रकार भेद मोक्ष में हैं, ये चारो प्रकार के मोक्ष भगवान् के दास्य के आगे अप्रयोजक बेकार हैं, कारण कि भगवान् के मुखारविन्द का दर्शन करने से चार प्रकार के जो मोक्ष हैं, उनकी प्राप्ति की इच्छा निवृत्त हो जाती है, कारण कि भक्ति रूप भगवान् का मुखारविन्द, चतुर्विध मोक्ष में जो आनन्द प्राप्त होता है, उस आनन्द की अपेक्षा से उत्तम धर्म वाला है, उत्तमधर्म वाला जिस प्रकार है उस प्रकार का गोपियां वर्णन करती हैं ।

मूल में गोपियों ने भगवान् के अङ्गों का दर्शन करके दासी होने को कहा है, और यहां पर तो ‘आपको देखकर’ इतना ही गोपियों को कहना था, कारण कि आपको देखकर इस प्रकार कहने से ही गोपियों के भाव की पूर्ति हो जाती, फिर जो एक एक अङ्ग भूषण का दर्शन कहा है, इसका अभिप्राय गोपियां निरूपण करती हैं कि भगवान् की अलक-केशों की घुँघुराली जो लट हैं, उनमें सारूप्य मोक्ष की प्राप्ति की तरह भ्रमर हैं, वे भ्रमर बहुत सी अलकों में लिपटकर मुख ऊपर रहते हैं, अतः सारूप्य मोक्ष प्राप्त भ्रमरों को भी यदि भक्तिशेषता—भक्ति का अङ्ग है तो फिर सारूप्य मोक्ष का हमको क्या प्रयोजन है ? यहां पर भ्रमरों के सारूप्य की तरह अलकों द्वारा सारूप्य मोक्षवाले भक्त लक्षित होते हैं । केश तो बद्ध भी होते हैं, किन्तु अलक बद्ध नहीं होती हैं इससे भी भक्त ही सूचन किये हैं । ‘मत्सेवया प्रतीतं च’ ‘सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य’ इत्यादि वाक्यों से भक्तों को दास्य की अपेक्षा चार प्रकार का मोक्ष भी न्यून है, अर्थात् भक्त दास्य चाहते हैं, मोक्ष नहीं चाहते हैं, इस प्रकार सिद्धान्त गोपियों ने सिद्ध किया है । कारण कि उक्त मोक्षों में परमानन्दरस प्राप्त नहीं होता है ।

दास्य रस मोक्ष से अधिक है, इसमें आवरण नहीं है । अतः यहां सारूप्य में भी मुख में आवरण रूप ही कहा है, जब तक भीतर स्थिति नहीं होती है, तबतक ऊपर चारों तरफ स्थिति मात्र से भ्रमरों को रसपान संभव नहीं हो सकता है, भ्रमरों को रसपान नहीं है, इस बात को सूचन करने के लिये यहां मुख को कमलत्व भी नहीं कहा है, दूसरे यहां मुख को कमलत्व

---

[१] ( ) चिह्नान्तर्गतं प्रभूणाम् ।

इसलिये भी नहीं कहा है कि कमल पान करने योग्य नहीं होता है, किन्तु कमल के भीतर के रस का आस्वादन किया जाता है । भगवान का मुख, कमल सदृश इस प्रकार का नहीं है किन्तु स्वयं ही रसात्मक है, इस बात को ज्ञापन करने के लिये मुख को यहां मूल में कमलत्व नहीं कहा है । बहुतों से आवृत-आवरण कहा है, अतः मुख में महारस व्यंजित होता है ।

भगवान की लीला अथवा नाद के श्रवण से प्रथम उत्पन्न हुआ भाव मुखदर्शन से पुष्ट किया जाता है । और अत्यन्त आर्त्ति का लय, तथा विविध रस भावों की उत्पत्ति भगवान के मुखदर्शन से होती है, ‘अलक’ इस वर्णात्मक नाम से उक्त स्थिति, और प्रलय, उत्पत्ति सूचित होती है, इसलिये हमको आपकी दासी होना युक्त ही है ।

‘आपका सुन्दर स्मितयुक्त निरीक्षण’ आदि का वर्णन करके गोपियों ने पहले श्लोक में अपना अधिकार निरूपण किया है, अर्थात् हम सब दास्य प्राप्त करने की अधिकारिणी हैं, दास्य से मुख अपने अधीन हो जाता है, इसलिये दास्य के अङ्गभूत मोक्षों का सर्वरूप से गोपियों ने अङ्गीकार नहीं किया है । इस प्रकार जानना चाहिये ।

भगवान का मुख दो कुण्डलों से शोभित है, अथवा भगवान के मुख से कुण्डलों की शोभा हो रही है. सामीप्य मोक्ष में निकटता होती है, अर्थात् भगवान के समीप स्थिति होती है, यदि कोई सामीप्य मोक्षवाला भगवान के अत्यन्त समीप में जाता है तो कुण्डलों से अधिक समीप में नहीं जायेगा, भगवान के दोनों कुण्डल भक्ति के अङ्ग सांख्य, योगरूप हैं, और भगवान के प्रमाणरूप कर्णों के आश्रित हैं, अर्थात् कर्णों में लटक रहे हैं । ‘कर्णौदिशः श्रोत्रममुष्य शब्दः’ इस वाक्य से भगवान के श्रोत्र शब्दरूप हैं, इसलिये प्रमाणरूप हैं, इस प्रकार प्रमाणरूप श्रोत्रों के अवलम्बी कुण्डल हैं, अर्थात् भगवान को प्रमाणित करनेवाले भक्ति प्रतिपादक भागवत और गीता रूप शास्त्र हैं, उनके आश्रित कुण्डलात्मक योग तथा सांख्य शास्त्र हैं । कारण कि सर्वत्र भक्ति की मुख्यता है ।

अथवा भगवत्प्रमाण वेद को भी कहते हैं, इसलिये वेद से अविरुद्ध सांख्य, और योग वेद प्रमाण के आश्रित हैं, इस प्रकार भी अर्थ होता है । ‘भगवत्प्रमाणावलम्बिनी’ कुण्डलों की गति भगवान के आधीन है, और फिर भगवान के भक्तिरूप मुख का दर्शन कर रहे हैं ।

सांख्य-योग भगवान का मुख निरीक्षण करते हैं, इसलिये सांख्य-योग में निष्ठा वाले पुरुष, जिस समय भगवान का मुख निरीक्षण करते हैं, उस समय उनको भक्ति प्राप्ति की अभिलाषा ही होती है, भक्तिरूप मुख की प्राप्ति नहीं होती है, इस प्रकार भी भाव सूचन किया है । तो फिर इस प्रकार के सामीप्य मोक्ष से हमारा क्या प्रयोजन है ।

‘गण्डस्थलाधरसुधम्’ भगवान के मुख में गण्ड-कपोल दोनों स्थल रूप विशाल हैं, कारण कि स्थल में खड़ा रह करके ही रसपान हो सकता है, इसी को ज्ञापन करने के लिये ही यहां स्थल शब्द कहा है, नहीं तो नहीं कहते, भगवान के अधर-नीचे होठ में सुधा-अमृत है, गंडस्थल में खड़े होकर अधर-सुधा का पान दास्य में हो सकता है, सालोक्य मोक्ष में स्थान-आनन्दमात्र अक्षरब्रह्म के अमृत का पान है, परमानन्द रस प्राप्त नहीं है, अर्थात् सालोक्य मोक्ष में स्थल आनन्द की मात्रा-अंशवाला अक्षरात्म है, और दास्य में स्थल गण्डरूप पूर्णानन्द रूप है, इसलिये अक्षर की अपेक्षा से भी गंडस्थल में स्थिति चुम्बनादि के लिये उत्तम है, सालोक्य में अक्षर में स्थित होकर अक्षरामृत का पान है, और दास्य में गंडस्थल में स्थित होकर अधर-रस का पान है, अतः गोपियों ने अक्षर-रस से यहां अधर-रस को उत्तम कहा है ।

अब मूल में ‘कुण्डलश्रीगण्डस्थलाधरसुधम्’ ।

इस प्रकार समस्त एक पद माना जाये तो इस पक्ष में कुण्डल श्रीयुक्त गण्डस्थल-कुण्डलों की शोभायुक्त गण्डस्थल, इस प्रकार अर्थ होता है, इसलिये सामीप्यमोक्ष, भक्ति का अङ्ग होने से गण्डस्थल रूपी भक्ति में परस्पर आपका गुणगान रूप शास्त्रीय रस का अधिक निरूपण होता है, और अक्षर से अधिक तो अधर-रस में स्पष्ट ही है।

'हसितावलोकम्' भगवान के मुख में हासपूर्वक अवलोक-कटाक्ष हैं, ब्रह्मानन्द में प्रविष्ट हुए जीवों को भक्ति विलास नहीं है।

भगवान का हास सर्व रसों का उद्बोध रूप है, अर्थात् सर्व रसों को जाग्रत करनेवाला है, सर्व रसों का ज्ञान कराता है, और वह अवलोकन रूप ज्ञान आविर्भूत है, जिस प्रकार जल में डूबे हुए पुरुष को जलपान का अनुभव व्यक्त नहीं होता है, उसी प्रकार ब्रह्मानन्द में प्रविष्ट हुए पुरुष को आनन्द तथा ज्ञान का अनुभव व्यक्त नहीं होता है। ब्रह्मानन्द में आनन्द और ज्ञान दोनों ही अव्यक्त हैं, कारण कि ब्रह्मरूप हो जाने से आनन्द और ज्ञान आत्मारूप ही हो जाते हैं, इसलिये इन दोनों का भिन्नता से अनुभव नहीं होता है। अतः अव्यक्त रहते हैं। वास्तव में अनुभव रस तो भिन्न-पृथक् स्थिति रहने पर ही होता है। इसीसे हमने आपके भक्तिरूप मुख का दर्शन किया है, अतः हमारे सबके लिये दास्य ही फलयुक्त है, मोक्ष नहीं है।

'भुजदण्डयुगम्' इन्द्रादि देवता आपकी भुजायें हैं, इसलिये आपके दोनों भुजदण्डों को देखकर हमको इन्द्रादिभान से भी अभिलषित फल में स्वर्ग प्रयोजक नहीं है, कारण कि आपके भुजदण्डयुग दर्शन करके इन्द्रलोक के काम निवृत्त हो जाते हैं, इसी बात को गोपियां कहती हैं कि 'दत्ताभयम्' आपका भुजदण्ड अभय देनेवाला है, स्वर्ग में इन्द्र सर्व देवताओं से विशेष परम-काष्ठा ऊंचे से ऊंचे स्थान को प्राप्त हुआ है, परन्तु इन्द्रादि देवता भी दैत्यों से निरन्तर डरते रहते हैं, इस प्रकार भयभीत इन्द्रादि देवताओं को भी भगवान् का भुजदण्ड युगल अभय देने वाला है, इस प्रकार का अभयदान देने वाला भुजदण्डयुग जब कि दास्य में ही है, फिर दास्य को त्यागकर हमारे लिये इन्द्र पद से क्या प्रयोजन है।

मूल श्लोक में 'च' कार है, उससे इस प्रकार अर्थ सूचित होता है कि भगवान् इन्द्रादि देवताओं को केवल अभय मात्र ही नहीं देते हैं, किन्तु क्रियाशक्ति अपने हस्त से यज्ञादि द्वारा आप हवि प्रदान भी करते हैं, कारण कि जब इन्द्र का आगे अधिकार समाप्त हो जायेगा तब वह मुक्त हो जायेगा, मुक्त करने के लिये मुक्ति का साधनभूत शुद्धि सम्पादन करने वाला वैदिक विधि से सिद्ध हवि भगवान् इन्द्र के लिये देते हैं।

मूल में भुजदण्ड कहा है, इसमें दण्ड पद से आपकी आज्ञा का उल्लंघन इन्द्रादि देवताओं को भय देनेवाले भी दैत्य नहीं करते हैं, दैत्य भी आपकी आज्ञा मानते हैं, इस प्रकार गोपियों ने भगवान् को ऐहिक अनिष्ट निवर्तक कहा है, उसी प्रकार देवताओं के भी भगवान् अनिष्ट निवर्तक हैं। और यदि द्विज यज्ञ नहीं करें तो भगवान् द्विजों को भी दण्ड देकर शिक्षा करते हैं, यज्ञ करने की भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन द्विज भी नहीं करते हैं। भगवान् मुक्ति में हेतुभूत शुद्धि करनेवाले इन्द्रादि को हवि का दान करके पारलौकिक सुख देते हैं।

अब गोपियां हविदान से परलोक साधन में विशेषता कहती हैं कि यहां वाम तथा दक्षिण दोनों भुजाओं को दंडयुग से कहा है, इसलिये भगवान् की क्रियाशक्तिरूप वैदिक क्रिया-यज्ञ सम्बन्धी हवि का भक्षण करने वालों के अन्तःकरण में स्थित भी दैत्यों का नाश करने वाली है। मूल श्लोक में 'भुजदण्डौ' इस प्रकार द्विवचन नहीं कहा, 'भुजदण्डयुगं' यह एकवचन कहा है,

उसका यह भाव है कि दोनों भुजदण्डों की प्रतीति में अपेक्षा बुद्धि होती है, अपेक्षा बुद्धि से द्वित्व होता है, प्रकृति विषय में तो आश्लेष दशा में दोनों भुजाओं की एक की तरह प्रतीति होती है, एक की तरह प्रतीति भी अपने आश्लेष समय में संभव नहीं होती है, किन्तु और के आश्लेष में होती है इस प्रकार का दर्शन भाव का उद्बोधक ही होता है, फिर भी जो द्विवचन द्वयपद न कहकर 'युग' पद कहा है, इससे युग का स्वभाव है कि जिस प्रकार किसी से निवृत्त नहीं हो सकता है, (जो वस्तु युग होती है, वह वैसी ही जुड़ी रहती है, पृथक् नहीं होती है) उसी प्रकार भुजदण्ड, इस एकवचन से सूचित किया अर्थ लक्षण स्वभाव मर्यादा शास्त्र आदि से निवृत्त नहीं हो सकता है, कारण कि आश्लेषरूप स्वभाव इस प्रकार का ही है, यह ज्ञापन किया है, इसलिये हमको आपकी दासी होना आवश्यक हो जाता है। आपके वक्षस्थल को देखकर हम आपकी दासी होती हैं।

लोकों को लक्ष्मी से रमण होता है, अर्थात् लक्ष्मी लोकों के रमण का साधन है 'श्रियैक-रमणं' इसमें इयङ् छान्दस है, लक्ष्मी का एक रमण आप भगवान् के वक्षस्थल में होता है, यह अर्थ होता है। अब विवक्षित अर्थ कहती हैं कि लक्ष्मी भी भगवान् के वक्षस्थल पर रमण करती हैं, इसलिये आपके वक्षस्थल का दर्शन करके हमको श्री-लक्ष्मी की अपेक्षा रहती नहीं है।

मूल श्लोक में 'च' है, इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार लक्ष्मी वक्षस्थल पर रमण करती हैं, उसी प्रकार धर्म भी रमण करता है। 'धर्मःस्तनोऽधर्मपथोऽस्य पृष्ठः' भगवान् का स्तन धर्म है, और अधर्म पुष्ठ है, इस वाक्य से धर्म का भी वक्षस्थल स्थान है। लोक में लक्ष्मी का साधन धर्म भी आपके वक्षस्थल में रमण करता है, इस लिये भगवान् के वक्षस्थल का दर्शन करने वाली गोपियों को धर्म का प्रयोजन है। वक्षस्थल के दर्शन में ही धर्म का भी समावेश हो जाता है, इस लिये आपके वक्षस्थल को देखकर हम गोपियां दासी होती हैं।

इस प्रकार उक्त श्लोक में यहां क्रम से मोक्ष, काम, अर्थ और धर्म, इन चारों पुरुषार्थों की अभिलाष व्रजवधुओं ने अप्रयोजक-अपने लिये प्रयोजनरहित व्यर्थ बतलाई है।

यद्यपि जिस प्रकार का सारूप्य मुक्ति के अधिकारियों को भगवान् के मुख दर्शन आदि से परमानन्द का अनुभव होता है, उस प्रकार के दास्य में आनन्दानुभव नहीं होता है। तो फिर गोपियों ने सारूप्य मोक्ष स्वीकार क्यों नहीं किया, यह शंका प्राप्त होती है, तथापि स्वरूप के अन्तःपाति होने पर ही अलकों द्वारा मुख के आनन्द का अनुभव किया जाता है, सर्व स्वरूप के सुख का अनुभव नहीं होता है, इसलिये गोपियों ने सारूप्य मोक्ष स्वीकार नहीं किया है, इसी प्रकार सामीप्य आदि मोक्ष में भी जानना चाहिये। कारण कि स्वरूपान्तःपाति की अपेक्षा लीलान्तःपाति को उत्तमता है।

जिस प्रकार वैकुण्ठ में रहने वाले पार्षद आदि का भी चतुर्भुज आदि भगवान् के सदृश रूप होता है, उस प्रकार का यहां नहीं होता है, किन्तु भगवान् के स्वरूप में सायुज्य प्राप्त करके फिर श्यामरूपता रूप अलकों का सारूप्य है। यहां पर इस प्रकार मानना चाहिये।

इस श्लोक में भगवान् के पृथक्-पृथक् अङ्गों का दर्शन करने से इस प्रकार का दास्य भाव प्राप्त हुआ कहा है, अर्थात् इस प्रकार के भाव से भगवान् का दर्शन करना दास्य भाव में कारण है, दास्य भक्त उक्त भाव से भगवान् का दर्शन करते हैं, इसलिये जिसमें इस प्रकार का दास्य भाव नहीं है, उसको भगवान् के अङ्गों का इस प्रकार से दर्शन नहीं होता है, गोपियों ने भगवान् के इस प्रकार के रसात्मक स्वरूप का दर्शन किया है, यह दर्शन विधि-वेद के आज्ञानुसार नहीं

किया है, किन्तु स्वाभाविक प्रेम से किया है, इसीलिये भगवान् के दास्य से विपरीत-विरुद्ध 'घर जाओ' यह विधि वाक्य भगवान् का गोपियों ने स्वीकार नहीं किया है। नहीं करना युक्त ही है।

'नैतद्वीक्षणमस्ति' इसके आगे पङ्क्ति में इस प्रकार का भाव कहा है कि जिसमें दास्य भाव नहीं है, उसका इस प्रकार का वीक्षण भी नहीं है। अतःवीक्षणाभाव के कारण से जो इस प्रकार से वीक्षण करने वाली गोपियां हैं, उनको ही 'भवाम दास्यः' इसमें लोट् लकार का प्रयोग करके विधि बतलाई है। और जो गोपियां उक्त प्रकार से दर्शन नहीं करती हैं, उनको गोपियों द्वारा प्रतिपादित विधि का अभाव होने से दास्य विधि को अङ्गीकार नहीं करना युक्त ही है, इस प्रसार ज्ञापन किया है।

भगवान् ने छब्बीसवें श्लोक में 'अस्वर्ग्यं' इत्यादि से कहा था कि जो स्त्रियां अपने पतियों का त्याग करके उपपति-जार का सेवन करती हैं, उस जार में व्यभिचार दोष से छै दोष हैं। मुख्य जार के भी भजन करने में छै दोष हैं, उन छै दोषों का भी निवारण गोपियों ने भगवान् के छै गुणों द्वारा कर दिया है। मूल श्लोक में 'अलकावृत आदि विशेषण हैं' इनमें क्रम से १ ऐश्वर्य, २ यश, ३ वैराग्य, ४ ज्ञान, ५ वीर्यम्, ६ श्री, ये भगवान् के छै गुणों का वर्णन किया है। अर्थात् अलकावृत से ऐश्वर्य 'कुण्डल श्रि' इससे यश कहा है, 'गण्डस्थलाधरसुधम्' इससे वैराग्य 'हसितावलोकम्' इससे ज्ञान 'दत्ताभयं' से 'भुजदण्डयुगं' इससे वीर्य 'श्रियैकरमणं, वक्षः' इससे श्री का वर्णन किया है।

भगवान् के दर्शन से उक्त छै गुण प्राप्त होते हैं, इसलिये व्यभिचारकृत छै दोषों की निवृत्ति हो जाती है। वास्तव में तो जो मोक्ष आदि से भी अधिक परमपुरुषार्थ साधन करने वाला है वह दास्य, पाप नहीं हो सकता है, कारण कि फल प्राप्त होने से ही पाप निन्दा करने योग्य है, अर्थात् पापका फल परिणाम में दुःख होता है, इसलिये उसको पाप कहते हैं, दास्य में तो परमानन्द की प्राप्ति होती है,लेशमात्र भी दुःख नहीं है, इसलिये आपका दास्य पाप नहीं है ॥३९॥

(सुबो०) ननु तथापि लोकविद्विष्टं स्त्रीणामभिसरणम्, अतः सन्मार्गरक्षणार्थं प्रमाणसिद्धमप्येतन्न कर्तव्यम्, अतः श्रवणदर्शनादिकमेव कर्तव्यमिति चेत, तत्राहुः का स्त्रीति।

यदि भगवान कहें कि स्त्रियों को जार पुरुष के पास जाना निन्दनीय है, इसलिये सन्मार्ग-मर्यादा मार्ग की रक्षा करने के लिये प्रमाणसिद्ध भी दास्य, नहीं करना चाहिए, २७वें श्लोक में कहे श्रवण-दर्शन आदि ही आपको करने चाहिये। इसका उत्तर आगे श्लोक में गोपियां कहती हैं।

का स्त्र्यङ्ग ते कलपदामृतवेणुगीत-
सम्मोहितार्यचरितान्न चलेत् त्रिलोक्याम्।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं
यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन् ॥ ४० ॥

पदपदार्थ—(हे अङ्ग) सम्बोधन (ते) आपके (कलपदामृत वेणुगीतसंमोहिता) मधुर पदों में जो अमृत अर्थ रूप है, वह अमृत वेणु से गान किया, उसके द्वारा संमोहित हुई (का) कौन-सी (स्त्री) (त्रिलोक्याम्) त्रिलोकी में (आर्यचरितात्) सन्मार्ग से (न) नहीं

(चलेत्) चलायमान हो (इदं) यह (त्रैलोक्यसौभगं) त्रैलोक्य का सौभाग्यरूप (रूपं) अपने स्वरूप को (निरीक्ष्य) देखकर (यद्गोद्विजद्रुममृगाः) बैल, पक्षी, वृक्ष, मृग, (पुलकानि) रोमाञ्चों को (अबिभ्रन्) धारण करते हुए ॥ ४० ॥

भाषार्थ—हे अङ्ग ! अपने अव्यक्त मधुर पदों में जो अमृत है, वह वेणुगान किया, उसके द्वारा संमोहित हुई कौन-सी स्त्री त्रिलोकी में आर्य चरित से चलायमान नहीं हो, अर्थात् सभी सन्मार्ग से विचलित हो जाती हैं, और त्रैलोक्य का सौभाग्य रूप आपके स्वरूप का दर्शन करके बैल पक्षी वृक्ष और मृग रोमाञ्च धारण करते हुए ॥ ४० ॥

(सुबो०) अयं धर्मः पुरुषाणां वक्तव्यः, न तु स्त्रीणाम्, असंभावितत्वात्। नह्यसंभावितो धर्मो भवति। एवं धर्मनाशे धर्मस्थापकं स्वरूपमेव हेतुः, अद्भुतकर्मत्वात्। वस्तुतस्तु स्वरूपसम्बन्धिनां भक्तानां धर्मं स्वरूपेणैव रक्षति। तच्चान्यभावेभ्यो रक्षणमेतद्भावपोषणं च। ये स्वरूपधर्मसम्बन्धिनस्तांस्तैरेवेति न किञ्चिदनुपपन्नमिति भावः। अत एवैवं स्वरक्षणेन स्वान्तरक्षणेन स्वान्तरङ्गत्वज्ञापनाय अङ्गेति सम्बोधनम्, अप्रतारणाय च। या स्त्री लोके स्त्रीशब्दवाच्या सा कथमार्यचरितान्न चलेत। त्रिलोक्यां सत्त्वरजस्तमःकार्यरूपायाम्। तामसीनां मौढ्यात् आर्यचरिते स्थितिं मत्वा तन्निराकरणम्। राजसीनां स्वभाव एव। सात्त्विकीनां सत्त्वाद्धर्मबुद्धिमाशंक्य तन्निराकरणम्। आर्यमार्गपरित्यागे हेतुः ते कलपदामृतवेणुगीतसम्मोहितेति। सम्मोहिता आर्यचरिताच्चलत्येव। सम्मोहः पञ्चपर्वाऽविद्यास्थानीयः। भगवत्सम्बन्धात् अविद्या तु न बाधते परमन्य एव बाधकाः। तेषां बलं ते इति, त्वदीया इति। कलान्यव्यक्तमधुराणि यानि पदानि तत्राविर्भूतं यदमृतं तदेव वेणुद्वारा गीतं तेन संमोहः। गीतं देहमोहजनकम्, 'गायन्तं स्त्रियः कामयन्त' इति। स्त्री तु देह एव! इन्द्रियाणां व्यामोहको वेणुः, रसात्मकत्वात्। अमृतं प्राणानाम्। पदान्यन्तःकरणस्य। अव्यक्तता आत्मन इति सम्यग्विमोहिताः। आर्याः प्रमाणबलविवेकिनः। प्रमाणे हि इन्द्रमहेन्द्रयोरपि भेदस्वीकारः। पृथगुपस्थिताः सर्व एव भिन्ना इति। अन्यथा इन्द्रयाजिनोऽग्रे संवत्सरान्ते प्रायश्चित्तश्रवणं न स्यात, 'सम्बत्सरस्य परस्तादग्नये व्रतपतये पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपे' दिति। अतो देहव्यतिरिक्तः स्वरूपेणोपस्थितोऽपि प्रमाणबले विरुध्यते। वस्तुविचारस्तु प्रमेयबलमाश्रित्य, अन्यथा विधिनिषेधविधयो व्यर्थाः स्युः। तदुत्तरत्र वक्ष्यति एकादशे। अतो मार्गान्तरविरोधो मार्गान्तरे नोपयुज्यत इति मर्यादाभङ्गोऽत्र न दूषणम्। एतस्योत्तरमग्रे शुकश्च वक्ष्यति, रासानन्तरम्, 'धर्मव्यतिकरो दृष्ट' इति। तस्मादत्र फलस्य सिद्धत्वात् साधनदृष्ट्या अपकीर्तिः नास्मत्प्रतिबन्धिका। किञ्च,

न केवलं नाम्ना मर्यादाभङ्गः, किन्तु स्वरूपेणापि, तदाहुः त्रैलोक्यसौभगमिति। त्रैलोक्यस्यापि सुभगत्वं यस्मात। यथा सूर्येण दिनम् , चन्द्रमसा रात्रिः, तथा त्रैलोक्यमेव सुन्दरतां याति। इदमिति प्रत्यक्षसिद्धम्। चकारादनुभावांश्च। तच्छ्रुत्वा एतत् दृष्ट्वा का वा आर्यचरितान्न चलेत्। अस्त्वियं प्रमाणवार्ता दुर्बला, प्रकारान्तरेणापि चलति, भगवतो रूपेण प्रमेयमर्यादाप्यपगच्छति। या कथमपि नान्यथा भवति। तदाह यद्गोद्विजद्रुममृगा इति। गावो हि प्रमाणवार्तानभिज्ञाः, मातरमपि गच्छन्ति, द्विजाः पक्षिणः सर्वभक्षाः, द्रुमाः स्थावराः, कदाचिदपि बहिः संवेदनरहिताः निरिन्द्रिया एवेति केचित्। मृगाः सर्वतोभयाः। तेऽपि चेद्भगवद्रूपेण ये गीतेन वा आश्लिष्टरसाः पुलकानि धारयन्ति, रसिकमनुष्यधर्मानाविष्कुर्वन्ति। ये भगवता अन्यथैव सृष्टाः। स्त्रियस्तु स्वभावतोऽप्यन्यथा भवन्तीति नाश्चर्यं किञ्चिदत्र ॥ ४० ॥

गोपियां कहती हैं कि आपने कहा है कि तुम घर जाकर श्रवणादि करो, और मर्यादामार्ग की रक्षा करो, इत्यादि वाक्यों का उत्तर हमारा यह है कि सन्मार्ग-रक्षारूप धर्म का तो पुरुषों को उपदेश करना चाहिये, स्त्रियों को नहीं, कारण कि इस प्रकार का धर्म स्त्रियों में संभावित नहीं होता है। वास्तव में तो जो सम्भावित नहीं होता है, वह धर्म ही नहीं होता है।

यदि कहो कि बहुत सी स्त्रियां ऐसी हैं जो जार के पास नहीं जाती हैं। आप सब भी जार के पास जानेवाली नहीं हो, फिर इस प्रकार क्यों कहती हो।

तब इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि इस प्रकार आपकी दास्य स्वीकार करने में यदि सती स्त्रियों के धर्म का नाश होता हो तो धर्मस्थापक आपका स्वरूप ही धर्मनाशक हेतु हो जायेगा। यदि कहो कि जो धर्मस्थापक है, वह धर्मनाशक कैसे हो सकता है।

तब इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि आपका स्वरूप अद्भुत कर्म करनेवाला है, जिस प्रकार 'चस्कम्भ यः स्वमहसाऽस्खलता त्रिपृष्ठम्' यहां पर जो नीचे गिरने वाली क्रिया है, उसका स्थापकत्व कहा है। और जिस प्रकार 'वादैर्विमोहयति यज्ञकृतोऽतदर्हान्' यहां पर वेदबाह्य बौद्ध को वेद का स्थापकत्व कहा है, उसी प्रकार यहां भी विपरीत है।

गोपियां कहती हैं कि यदि आप कहो कि इस प्रकार करने से अधर्म जैसा होता है, तब गोपियां पक्षान्तर कहती हैं ('वस्तुतः') वास्तव में तो जिन भक्तों का सम्बन्ध भगवान् के स्वरूप से हो गया है, उन भक्तों के धर्म की भगवान् अपने स्वरूपबल से ही रक्षा करते हैं। अर्थात् अन्य भावों से धर्म का रक्षण, और दास्यभाव का पोषण करते हैं, तथा जो भक्त स्वरूपधर्म सम्बन्धी है, उनका भगवान् स्वरूपधर्मों से ही रक्षण करते हैं, अतः इस प्रकार करने में कुछ भी अयुक्त नहीं है। यहां पर भी प्रतियोगी भेद से व्यवस्था होने से धर्मस्थापकत्व ही है, दोष का लेश भी नहीं है। यह भाव है। इसी से भगवान् ने हमारा अन्यभाव से रक्षण करके तथा दास्य का पोषण करके, ये गोपियां हमारी अन्तरङ्ग हैं, इस बात को ज्ञापन करने के लिये ही रक्षण किया है।

हे अङ्ग ! यह कोमल सम्बोधन दिया है, अथवा अप्रतारण के लिये जिससे विश्वास हो जाये अङ्ग संबोधन दिया है।

जो स्त्री लोक में स्त्री-शब्द से कहलाती है, वह स्त्री आर्यचरित से कैसे चलित नहीं हो, अर्थात् चलित ही हो जाती है।

त्रिलोकी में—अर्थात् सत्व रज तम के कार्यरूप तीनों लोकों में, तामसी स्त्रियां अपने मूढ स्वभाव से आर्यचरित में स्थिति यदि करें, इस प्रकार माने तो गोपियां इसका निराकरण करती हैं, कि राजसी स्त्रियों का तो स्वभाव ही चलित होता है, सात्त्विकी स्त्रियों की बुद्धि सत्त्व से धर्म में होती है, इस शंका से सात्त्विकी आदि स्त्रियोंका भी यहां 'का स्त्री' इस प्रकार कहकर निराकरण कर दिया है, अर्थात् सात्विकी आदि कोई भी स्त्रीमात्र आर्यचरित से चले बिना नहीं रह सकती है।

इस प्रकार तामसी राजसी सात्त्विकी स्त्रियां आर्यमार्ग से विचलित होती हैं, इसी बात को ज्ञापन करने के लिये मूल में 'त्रिलोक्यां' तीन लोक में कहा है। तीनों प्रकार की स्त्रियों ने आर्यमार्ग त्याग किया है, इसमें गोपियां हेतु कहती हैं कि, 'ते कलपदामृतवेणुगीतसम्मोहिता' आपके अव्यक्त मधुर पदों में जो अमृत अर्थरूप, वह वेणुद्वारा गान किया, उससे सम्मोहित हुई आर्यचरित से चलित होती ही हैं।

अविद्या के पांच पर्व हैं, (१) अन्तःकरणाध्यास, (२) प्राणाध्यास, (३) इन्द्रियाध्यास, (४) देहाध्यास, (५) स्वरूपविस्मरण। अतः अविद्या पञ्चपर्वा कही जाती है, इसके द्वारा जीवों को मोह होता है, किन्तु यहां स्त्रियों को जो मोह किया है वह पञ्चपर्वा अविद्यास्थानीय भगवान् की सम्बन्धी अन्य पांच वस्तुओं से हुआ है, (१) गीत (२) वेणु, (३) अमृत (४) पद (५) कल। ये पांच अविद्यास्थानीय हैं।

यदि कहो कि जब अविद्या के पर्वों से ही मोह सम्भव होता है, फिर कल आदि को मोहकत्व क्यों कहते हो।

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि, भगवत्संबंधियों को अविद्या बाध नहीं करती है, हमको भगवान् का संबंध है, इललिये अविद्या तो बाध कर सकती नहीं, है, किन्तु अन्य वस्तु ही बाध कर सकती है, और वह भी भगवत्संबंधिनी ही कर सकती है, अन्य नहीं।

यदि कहो कि भगवान् का साक्षात् संबंध होने पर मोह होना संभव नहीं है।

तब इसके उत्तर में कहती हैं, (तेषां बलं ते इति) गीत आदि में आप का बल है, कारण कि पूर्वोक्त पांचों वस्तु आप की हैं, गोपियों के कहने का तात्पर्य यह है कि मर्यादामार्गीय भगवान् के धर्मों से भी पुष्टिमार्गीय भगवद्धर्म बलिष्ठ हैं, यह भाव है।

कल-अव्यक्त मधुर जो पद शब्द हैं, उनमें प्रकट हुआ जो अमृत वही वेणु द्वारा गान किया, उस गान से हमको संमोह हुआ है। आपका गीत देह में मोह उत्पन्न करता है, इसमें श्रुति प्रमाण है कि 'गायन्तं स्त्रियः कामयन्त' स्त्रियां गान करने वाले की इच्छा करती हैं।

यदि कहो कि कामना मन का धर्म है, इसलिये मन को मोह होना तो युक्त ही है, किन्तु देह को मोह होना युक्त नहीं है।

इसके उत्तर में कहती हैं कि 'स्त्रीतु देह एव' स्त्री तो देह ही है, कारण कि जीव इन्द्रिय प्राण और अन्तःकरण, इनको स्त्रीत्व नहीं कह सकते हैं, देह ही को कामना होने में प्रयोजकता है, इसलिये देह ही स्त्री है।

(१) गीत–देह को मोह उत्पन्न करता है, (२) वेणु–इन्द्रियों को व्यामोह करनेवाला है कारण कि वेणु रसात्मक है, इन्द्रियां रूप आदि का ग्रहण करती हैं, वेणु द्वारा भगवान् वामपरावर्त

आदि रूप करके गान करते हैं, उस समय वेणुसहित रसात्मक स्वरूप भगवान का वेणु भी नाट्य की तरह रसात्मक ही भासता है ।

(३) अमृत-प्राणों को मोह करता है, कारण कि अमृत द्रव होता है, इसलिये आपोमय प्राणों का पोषक है ।

(४) पद-अन्तःकरण को मोह करते है, कारण कि पद-शब्दों का सूक्ष्म रूप मनोमय है।

(५) कल-अव्यक्तता आत्मा को मोह करती है, कारण कि अव्यक्तता में आनन्द है, आत्मा में आनन्द की अव्यक्तता से सजातीयता है, इसलिये प्राण, अन्तःकरण और आत्मा, इनको मोह करनेवाला ज्ञात होता है ।

यहां पर इस प्रकार जानना चाहिये कि द्वितीय स्कंध में सत्व रज तम को क्रम से सच्चिदानंदका मल प्रतिपादन किया है, उसमें अविद्या तामसी मलिन सत्त्व और रजयुक्त है, तम से जीव को अपने स्वरूप का अज्ञान विधान करके रज और सत्त्व से देहादि में तथा विषयों में व्यामोह उत्पन्न करती है । किन्तु जिसको भगवान् का सम्बन्ध हो जाता है, उसको अविद्या बाध नहीं करती है, लीला के लिये मोह तो स्वरूप विषयक है, इसलिये गीत आदि उक्त स्वरूप धर्मों के ही द्वारा भक्तों को उक्तरीति से मोह संपादन होता है ।

ऊपर कहे प्रकार से गोपियों को सम्यक् पूर्ण मोह हो गया है ।

यदि आप कहो कि आर्य-श्रेष्ठ भी तो भक्त ही हैं, उनका चरित भी सर्वत्याग पूर्वक भगवान् का भजन करना है, फिर तुम्हारा कहना कैसे युक्त होता है ।

इस शंका के उत्तर में गोपियां कहती हैं कि (आर्याः प्रमाणबलविवेकिनः) आर्य लोग प्रमाणबल से विवेक करने वाले होते हैं, प्रमेयबल से विवेक नहीं करते हैं ।

यदि कहो कि विवाहित पति की सेवा करना प्रमाण मार्ग है, भगवान् सर्वात्मक हैं 'गोपीनां तत्पतीनां च' (अ. ३० । ३६ ।) गोपियों के और गोपियों के पतियों के भगवान् आत्मा हैं, इस प्रकार शुकदेवजी आगे कहेंगें, अतः प्रमाणमार्ग का भी त्याग नहीं होता है, और केवल अधिक ही संपादन होता है, इसलिये तुमने जो प्रमाणबल की युक्ति दी है, वह युक्त नहीं है ।

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि 'प्रमाणे' प्रमाण मार्ग में इन्द्र महेन्द्र का भी गुणों से भेद स्वीकार किया है, यद्यपि महान् इन्द्र महेन्द्र, इस निर्बचन से इन्द्र ही महेन्द्र पदवाच्य है, तथापि यागविषय में पृथक् पृथक् देवता उपस्थित होते हैं, इसलिये प्रमाणबल से इन्द्र महेन्द्र आदि सर्व देवता भिन्न भिन्न हैं । यदि भिन्न नहीं मानते हैं तो एक इन्द्रका उद्देश्य करके याग करने वाले को इन्द्र और महेन्द्र दोनोंका उद्देश्य न करके याग करने वाले को, संवत्सर के अन्त में व्रतपति अग्निदेवता के लिये अष्टकपालों में तय्यार किया पुरोडाश अर्पण करना जो प्रायश्चित कहा है, उसका श्रवण नहीं होता, 'संवत्सरस्य परस्तादग्नये व्रतपतये पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्' इस प्रकार प्रायश्चित्त के श्रवण होने से सिद्ध होता है कि देह से पृथक् पदार्थ स्वरूप से उपस्थित भी प्रमाणबल में विरुद्ध होता है, इसलिये आत्मता से ऐक्य में भी गुण आदिकृत भेद स्वीकार करके महेन्द्र को देवतान्तरत्व की कल्पना करते हैं 'गुण आदि देह के धर्म हैं, इसलिये प्रमाणमार्ग में देह की प्रधानता है ।

उक्त कहने से यह सिद्ध हुआ कि प्रमाणमार्ग में देहनिष्ठ पति का अङ्गीकार करते हैं, अतः गोपियों के प्रमाणमार्गानुसार गोप ही पति हैं, किन्तु वास्तव में सर्वपति होने के कारण भगवान् ही पति हैं, अतः विवाहित पतियों की सेवा त्याग कर भगवान् का भजन करना चाहिये । ये ही

उपनिषदों के हृदय का भाव है, भजन ही आर्यमार्ग है । अतः आपके भजन करने में आर्यमार्ग हैं । अतः आपके भजन करने में आर्यमार्ग से कौन सी स्त्री चलित नहीं हो, इस प्रकार कथन यद्यपि संभव नहीं है, तथापि यहां आर्यशब्द से प्रमाणबल विवेकियों का ग्रहण किया है ।

प्रमाणबल का विवेक करने वाले वस्तु का विचार नहीं करते हैं, प्रमाणबल से देह की ही प्रधानता अङ्गीकार करते हैं ! देह प्राधान्य में तो विवाहित पतिका भजन मुख्य है, कारण कि उसको ही पतित्व है, भगवान् का भजन नहीं हैं, अतः विवाहित पति की सेवा त्याग करके वस्तु-पति भगवान् है, उनकी सेवा आर्यमार्ग से चल न हीं हैं, इसलिये मुल में कहा है कि वस्तु विचार तो प्रमेयबल का आश्रय करके किया है, प्रमेय भगवान् सर्वात्मक हैं, अतः सर्वरूप होने के कारण प्रमेयबल का आश्रय करके 'गोपीनां तत्पतीनां च' इत्यादि से भगवान् में परपुरुषत्व आदि से खण्डन विचार नहीं है, किन्तु वस्तुतः भगवान् पति ही हैं, और भगवान् का भजन आर्य मार्ग है, यह आशय है ।

टिप्पणी में कहा है कि प्रमाणमार्ग में पति आदि धर्म देह में रहते हैं, अतः देहधर्म से भिन्न धर्म—भगवद्धर्म यहां उपस्थित है, इसलिये यहां प्रमाण वचन का विषय नहीं है, कारण कि 'यावद्वचनं हि वाचनिकम्' यह न्याय प्रवृत्ति रूप प्रमाणमार्ग वस्तु को सहन नहीं करता है, अर्थात् प्रमाणबल में वस्तु का विचार नहीं है, यदि वस्तु का विचार हो तो आत्मधर्मों की मुख्यता होनी चाहिये, और जहां आत्मधर्मों की मुख्यता होती है, वहां देह का उद्देश्य—देह आगे करके प्रवृत्त हुई विधि निषेध की विधि व्यर्थ हो जाती है ।

भगवान् ने एकादश स्कन्ध के बारहवें अध्याय में उद्धवजी के प्रति वस्तुविचार से आत्मधर्म को आगे करके प्रमेयबल कहा है, 'तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम् । प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च । मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् । या हि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः ।।' इसलिये उद्धव तुम विधिशास्त्र की विधि को त्याग कर तथा प्रवृत्ति, निवृत्ति श्रोतव्य और श्रुत को त्याग कर सर्व प्राणियों का एक आत्मा मुझको सर्वात्मभाव से शरण प्राप्त हो मेरे द्वारा तुम अकुतोभय हो जाओ ।

इत्यादि वाक्यों से भगवान् ने प्रमेयबल कहा है । इसलिये प्रमेयमार्ग—पुष्टिमार्ग में मर्यादामार्गीय विरोध उपयुक्त नहीं होता है, अतः मर्यादाभङ्ग पुष्टिमार्ग में दूषण नहीं है ।

यदि कहो कि विहित धर्म उत्तम है, और निषिद्ध अधम है, तो इस प्रकार कहना भी उचित नहीं है, कारण कि 'शुद्ध्यशुद्धी विधीयेते समानेष्वपि वस्तुषु' यहां से लेकर 'गुणदोषौ विधीयेते नियमार्थं हि कर्मणाम्' यहांतक भगवान् ने कहा है कि सर्व वस्तु समान हैं, विधिनिषेध का विधान तो कर्मों के नियम के लिये हैं, वस्तु उत्तम अथवा अधम है, इसके लिये नहीं है, अतः विहित धर्म उत्तम, निषिद्ध-अधम मानते हैं तो उक्त भगवान् के वाक्य से विरोध हो जायगा ।

यदि कहो कि प्रमाणमार्ग विरोध का परिहार आपने नहीं किया है, इसलिये प्रमाणविरुद्ध नहीं करना चाहिये ।

इसके उत्तर में भी गोपियां कहती हैं कि प्रमेयमार्ग स्वतन्त्र है, वह प्रमाण मार्ग से बलिष्ठ है, इसलिये प्रमाणमार्ग का विरोध यहां प्रयोजक नहीं है । यदि इस प्रकार नहीं मानते हैं तो प्रेममार्ग का उच्छेद हो जाता है, इसी को सुबोधिनी में 'प्रमाणे हि' यहां से लेकर 'न दूषणम्' यहां तक कहा है, मर्यादा का भङ्ग होना प्रमेयमार्ग में पुष्टिमार्ग में दूषण नहीं है । इसी को आगे रास के अनन्तर शुकदेवजी स्वयं कहेंगे ।

यदि कहो कि प्रमाणमार्गीय और प्रमेयमार्गीयों का परस्पर भेद है, अतः प्रमाण वाक्य प्रमेयमार्गीय के विषय में उपयुक्त नहीं होवा है, जिस प्रकार यज्ञविधि यति-संन्यासी को उपयुक्त नहीं होती है अतः प्रमाण मार्ग का विरोध नहीं होता है।

इसका उत्तर इस प्रकार है कि भले ही ऐसा हो, यदि प्रमेयमार्ग में भी यति आश्रम की तरह विधि होती तो विधि होने पर अधिकारि-विशेषण की महिमा से ही अन्य की प्राप्ति होने से अविरोध होता, किन्तु प्रकृत में तो प्रभुके एक अनुग्रह से ही सर्ववस्तु की लभ्यता है, इसलिये कोई विधि नहीं है, वर्णाश्रम के विशेषाधिकार से प्रवृत्त वाक्य को संकुचित करना योग्य नहीं है, कारण कि कोई बाधक नहीं है। इसलिये प्रमाण से . अन्यथा करने में विरोध दूर नहीं हो सकता है।

प्रमेयमार्ग में प्रमाण तो 'धर्मव्यतिक्रमो दृष्टः' यहां से लेकर 'याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्' यहां तक शुकदेवजी ने ही कहा है, इसलिये सब निर्दोष है।

गोपियां कहती हैं कि मार्गान्तर विरोध का पुष्टिमार्ग में दोष नहीं है, इसलिये प्रमेयमार्ग में फलसिद्धि होने से साधन-मर्यादा मार्ग की दृष्टि से हमारी गोपियों की अपकीर्ति होगी तो, हमको प्रतिबन्ध करने वाली नहीं है।

यदि शंका करो कि कल-अव्यक्तपद आदि से जो मोहकत्व कहा है, वह शब्द रूप होने से वेदतुल्य है, अतः मर्यादामार्ग और प्रमेयमार्ग-पुष्टिमार्ग दोनों समान बल ही प्राप्त हैं, 'श्रवणादर्शनात्' यह भगवान् का वाक्य प्रमाणमार्ग का पोषण करता है, इसलिये प्रमाणमार्ग भी बलिष्ठ है, प्रमाण-मर्यादा मार्ग के विरोध से यहां प्रतिबन्ध है।

इस शंका के उत्तर में गोपियां कहती हैं कि केवल नाम-शब्द मात्र के कथन से मर्यादा का भङ्ग नही हैं, किन्तु स्वरूप से मर्यादा का भङ्ग है, इसी को आगे कहती हैं कि (त्रैलोक्यसौभगम्) त्रिलोकी का सौभग-सौभाग्य जिससे है वह त्रैलोक्यसौभग होता है, जिस प्रकार सूर्य से दिन सुन्दर लगता है, चन्द्रमा से रात्रि सुन्दर लगती है, उसी प्रकार त्रिलोकी भगवान् के रूप सुन्दरता को प्राप्त होती है।

'इदम्' शब्द यहां यह सूचन कर रहा है कि, यह प्रत्यक्षसिद्ध भगवान् का रूप हैं, और 'च' से जिसके अनुभाव को द्योतन कर रहा है।

भगवान् के अनुभाव का श्रवण करके तथा स्वरूप का दर्शन करके कौन सी स्त्री आर्य चरित से चलित नहीं हो। अतः गीतरूप शब्दमात्र से मर्यादा और पुष्टि दोनों मार्गों की तुल्यता की शंका प्राप्त होती है, किन्तु दोनों मार्गों की तुल्यता नहीं है, प्रमेयमार्ग में मर्यादामार्ग का प्रतिबन्ध नहीं है, यह भाव है।

अब गोपियां कहता हैं कि प्रमाण विचार तुच्छ है, भगवान का स्वरूप ही आर्यचरित से विचलित करता है, इसी को कैमुतिक न्याय से कहती हैं, कि यह आश्चर्य की बात नहीं है, कारण कि बलवान् प्रमाण प्रमेय से प्रमाणान्तर का बाध पूर्वमीमांसा 'औदुम्बरीय अधिकरण' में 'औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत्' 'सर्वा सा वेष्टयितव्या' यहां पर देखा है।

अब यह प्रस्तुत प्रमाणवार्ता प्रमाणबलाबलचर्चा रहने दो, कारण कि भगवान् के स्वरूप धर्मों के विचार की अपेक्षा दुर्बल है।

यदि कहो कि तो फिर भगवान के स्वरूप से चालन कैसे।

इसके उत्तर में कहती हैं कि दुसरे प्रकार से भी मर्यादा से चलित होती हैं, जो प्रमेय मर्यादा कभी चलित नहीं होती है, वह भी भगवान् के स्वरूप से चलित हो जाती है, इसी बात को गोपियां कहती हैं कि 'यद्गोद्विजद्रुममृगाः' बैल द्विज द्रुम और मृग, ये भी पुलकित हो जावे हैं। बैलों को प्रमाणवार्ता का ज्ञान नहीं होता है, इसलिये अपनी माता से भी समागम करते हैं।

द्विज-पक्षीगण सर्वभक्ष होते हैं। द्रुम-वृक्ष स्थावर हैं, वृक्षों को कभी भी बाहिर का ज्ञान नहीं होता है, कोई वृक्षों को इन्द्रिय रहित मानते हैं।

मृग-हरिण सर्व से सदा डरते रहते हैं। ये सभी यदि भगवान् के रूप से (अश्लिष्टरसाः) भगवान के रस का स्पर्श करके रोमाञ्चित हो जाते हैं, और रसिक मनुष्यों के धर्मों को प्रकट करते हैं, जो ये भगवानने अन्य प्रकार के स्वभाव वाले ही रचे हैं, इनकी जब इस प्रकार की दशा हो जाती है, तो फिर स्त्री तो स्वभाव से ही अन्यथा-सुन्दर स्वरूप का श्रवण तथा दर्शन करके चलित स्वभाव वाली होती है, अतः आपके अनुभाव का श्रवण करके तथा स्वरूप का दर्शन करके हमने आर्यमार्ग त्याग कर दिया, इसमें आश्चर्य की क्या बात है। अर्थात् आप का स्वरूप और गान जिसकी प्रमेय मर्यादा का नाश करता है, वह आर्यमार्ग से चलित होता है। और जिसकी प्रमेय मर्यादा का नाश नहीं करता है, वह प्रमेय मर्यादा में स्थित रहता है।

इस प्रकार की व्यवस्था सिद्ध होने पर जिसकी प्रमेयमर्यादा भी चलने के अनुगुण है, वहां 'अधिकं तत्रानुप्रविष्टं न तु तद्धानिः' अधिक प्रविष्ट होने पर भी उसकी हानि नहीं है, इस न्याय से आश्चर्य नहीं है, यह अर्थ है।

पूर्व में कहने का आशय यह हुआ कि जो सगुण हैं वे ही चलित होती हैं, निर्गुणा चलित नहीं होती हैं। मूल में 'का' शब्द विशेष प्रयोजन वाला नहीं है, इसलिये यहां इसका प्रयोजन बताकर इस शंका को भी दूर कर दिया है। और 'आत्मारामाश्चमुनयः' आत्मा में रमण करने वाले मुनिभी भगवान् के इस प्रकार के गुणों का विचार करके अहैतुकी भक्ति करते हैं, इत्यादि वाक्योंका समर्थन भी कर दिया है ॥ ४० ॥

(सुबो०) एवं भगवदुक्तानां वाक्यानां निवारणार्थं पुष्टिसिद्धान्तं निरूप्य एतद्भगवत्कृपैकसाध्यमिति भगवत्कृपां प्रार्थयन्ति व्यक्तमिति।

इस प्रकार भगवान् ने मर्यादामार्गीय वाक्यों द्वारा गोपियों को उपदेश किया था, और भगवान् के कहे वाक्यों के निवारण करने के लिये गोपियों ने भी दश श्लोक से पुष्टिसिद्धान्त निरूपण किया है, यह पुष्टिमार्ग का सिद्धान्त भगवान् की एक कृपा से ही सिद्ध हो सकता है, इसलिये गोपियां भी भगवान् की कृपा होने के लिये प्रार्थना करती हैं।

व्यक्तं भवान् व्रजभयार्तिहरोऽभिजातो
देवो यथादिपुरुषः सुरलोकगोप्ता।
तन्नो निधेहि करपङ्कजमार्तबन्धो
तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किंकरीणाम् ॥ ४१ ॥

पदपदार्थ—(यथा) जिस प्रकार से (आदिपुरुषः) प्रथम पुरुष भगवान् (देवः) देव होकर (सुरलोकगोप्ता) देवलोक की रक्षा करते (तथा) उसी प्रकार से (व्यक्तं)

स्पष्ट है (भवान्) आप (व्रजभयार्तिहरः) व्रज का भय, और दुःख हरने वाले (अभिजातः) प्रकट हुए, हे आर्तबन्धो ! हे दुःखीजन के बन्धु (तत्, तस्मात्) इस कारण से (करपङ्कजम्) अपने हस्तकमल को (किङ्करीणाम्) दासियां (नः) हमारे सब के (शिरस्सु) मस्तकोंपर (च) और (तप्तस्तनेषु) तप्त-स्तनों पर (निधेहि) धारण करो ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—जिस प्रकार आदि पुरुष भगवान् देव होकर देवलोक की रक्षा करता है, उसी प्रकार स्पष्ट है कि आप व्रजका भय और दुःख हरण करने वाले प्रकट हुए हैं और आप दुःखी जन बन्धु हैं, इसलिये अपना हस्तकमल हम दासियों के तप्त स्तनों पर और मस्तकों पर धरो ॥४१॥

(सुबो०) नापि त्वदुक्तमस्मदुक्तं वा किञ्चित्साधकं बाधकं वा, तथापि स्वावतारप्रयोजनं विचार्यं अस्मासु कृपा कर्तव्या । तत्प्रयोजनमाहुः । भवान् व्रजभयार्तिहर एव व्यक्तमभिजातः । व्रजस्य आर्तिः पीडा भयं च त्वया दूरीकर्तव्यम् । अन्यथा साक्षाद्भगवतोऽवतारे प्रयोजनं न पश्यामः । भूभारहरणं तु सङ्कर्षणांशेन । वसुदेवादिप्रियं प्रद्युम्नेन । धर्मरक्षा त्वनिरुद्धेन । यदि व्रजभयार्तिनिराकरणं न क्रियेत, तदा किमवतारान्तरकार्यं स्यात् । अतो व्यक्तं भवान् व्रजभयार्तिहरः । इदानीं यथार्त्तिरस्माकम्, तथा न कदापि । अस्मदपगमे तु सर्वस्यापि व्रजस्य महती आर्तिः । अत आर्तिनिवृत्तिः कर्तव्या । ननु मर्यादयैव निवृत्तिकरणमुचितम्, न तु अमर्यादया, तथा सति भवतीनां कामशान्तिः, ज्ञानं वा, भवत्विति चेत, तत्राहुः देवो यथादिपुरुष इति । भगवान् ब्रह्मरूपः सर्वसमः, तथापि इन्द्रादिषु कृपां कुर्वन् दैत्यान् मारयन् विषमतामङ्गीकरोति । न तु देवेभ्यो ज्ञानं प्रयच्छति । यत्र स्वरूपमेवान्यथाकरोति, तत्र वाचमन्यथा करोतीति किं वक्तव्यम् । अतो यथादिपुरुषोऽपि देवो भूत्वा द्युरलोकगोप्ता जातः, तथा भवानपि धर्ममर्यादारक्षकः, अस्मत्सम्बन्धं करोत्विति भावः । तदेव रसपोषार्थं व्याजेनाहुः तन्नो निधेहीति । आदावस्माकं शिरसि हस्तं स्थापय । यथास्माकमभयं भवति । ततोऽस्माकं हृदयतापनिवृत्त्यर्थं स्तनेषु च करपङ्कजममृतस्रावि तापनाशकं निधेहि । अनौचिती तु नास्ति । यतो वयं किङ्कर्यः । परीक्षार्थं वा एतत् द्रष्टव्यमिति रसोक्तिः ॥ ४१ ॥

इस श्लोक में गोपियों ने जो प्रार्थना की है, वह क्या भगवान् के वाक्यों का अर्थ निर्धार किया है, और अर्थ निर्धार करने से प्रसन्न हुए भगवान् को जान कर गोपियों ने कृपा की प्रार्थना की है ।

अथवा भगवान् कृपा करेंगे या नहीं, इस प्रकार सन्देह में भी अपने दैन्य से की है । अथवा किसी अन्य कारण से की है ।

यदि प्रसन्न भगवान् को जान कर की है तो कृपा स्वतः अपने आप ही सिद्ध है, उसके लिये प्रार्थना करने का कोई प्रयोजन नहीं है ।

और यदि सन्देह में अपने दैन्य से की है, तो भगवान् के वाक्यों से ही कृपा नहीं करना सूचित हो रहा है फिर प्रार्थना करना उचित नहीं होता है । तृतीयपक्ष-अन्य किसी कारण से की है, यह स्पष्ट नहीं है । इस प्रकार शंका में द्वितीयपक्ष-सन्देह में अपने दैन्य से की है, इस द्वितीय पक्ष को सूचन करतीं, तथा तृतीय पक्ष जो अस्पष्ट है उसको स्पष्ट करतीं गोपियां कहती हैं कि यद्यपि आपने जो आज्ञा की, वह अथवा हमने जो कुछ उत्तर में वाक्य कहे वे सब, इनमें से एक भी वाक्य साधन करने वाला, अथवा बाधा करने वाला नहीं है । तथापि आपको अपने अवतारका प्रयोजन विचार करके हमारे ऊपर कृपा करनी चाहिये । अवतार का प्रयोजन गोपियां कहती हैं, 'व्रजभयार्त्तिहरः' आप व्रजका भय तथा आर्त्ति-दुःख हरण करने वाले ही भूतलपर प्रकट हुए हैं, अतः व्रज की आर्त्ति-पीडा और भय आप को दूर करना चाहिये ।

यदि आप व्रजकी आर्ति और भय दूर नहीं करते हो तो साक्षात् भगवान् आपके अवतार लेने का अन्य प्रयोजन हम देखती नहीं हैं । कारण कि पृथिवी का भार दूर करने का कार्य तो संकर्षण अंश से होता है, और वसुदेव आदि को प्रिय-आनन्द देने का पुत्ररूप से कार्य प्रद्युम्न अंश से होता है, धर्मरक्षा का कार्य अनिरुद्ध अंश से होता है । यद्यपि यहां मूल में वासुदेवकार्य नहीं कहा है, इसलिये प्रकृत कार्य वासुदेव का ज्ञात होता है, तथापि पहिले वासुदेव अंश का कार्य मोक्ष देना कहा है, इसलिये यहां लोकवेदातीत पुरुषोत्तम के कार्य का प्रस्ताव होने के कारण से अवान्तर कार्य पद से पुरुषोत्तम का कार्य ही जानना चाहिये । और जो यहां सुबोधिनी में वासुदेव का नाम निर्देश नहीं किया है, इसका आशय यह है कि व्रज में स्तनपान करने के लिये वासुदेव का आविर्भाव हुआ है, इसलिये वासुदेव अंश भगवान् में एक होकर स्थित है, इस प्रकार प्रतिभान होता है । गोपियां कहती हैं कि यदि व्रजका भय और आर्ति दूर नहीं करोगे तो फिर आप-पूर्ण पुरुषोत्तम का अवतार कार्य अन्य क्या है, शेष कार्य कुछ ज्ञात नहीं होता है, इसलिये व्यक्त-स्पष्ट ही है कि आप व्रजजन का भय और आर्ति हरण करने वाले कार्य करने के लिये यहां पधारे हो । यदि भगवान् कहे कि गोपियो ! जिस प्रकार इतने काल तक आर्ति सहन करती तुम व्रज में रही हो, उसी प्रकार इस समय भी रहना चाहिये ।

इसके उत्तर में गोपियों ने इस समय जो आर्तिहरण करने की प्रार्थना की है, उसका तात्पर्य गोपियां कहती हैं कि इस समय जिस प्रकार की आर्ति हमको हो रही है, उस प्रकार की आर्ति हमको अभी तक पहिले कभी नहीं हुई है । यदि आप इस दुःख को दूर नहीं करोगे तो हमारा नाश हो जायेगा, जीवन नहीं रहेगा, और फिर सभी व्रज को बहुत आर्ति होगी ।

अथवा इस प्रकार भी अर्थ हो सकता है कि यदि हम दुःखी घर लौटकर जायेंगी तो हमको दुःखी देखकर सभी व्रज बहुत दुःखी होगा, इसलिये आर्ति निवृत्त आपको करनी चाहिये ।

यदि भगवान् कहें कि मर्यादा से ही तुमको आर्तिनिवृत्त करना उचित हैं, अर्थात् विवाहित पतियों द्वारा ही आर्तिनिवृत्त करना उचित है । मर्यादा त्यागकर आर्ति निवृत्त करना योग्य नहीं है । इस प्रकार से ही तुम्हारे काम की शान्ति, अथवा ज्ञान प्राप्त हो जायेगा ।

तब इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि (देवो यथादिपुरुषः) जिस प्रकार आदि पुरुष देव भजता है, उस प्रकार हमको भजो । आदि पुरुष देव भगवान् ब्रह्मरूप है, वह सर्व को समान है, तो भी इन्द्रादि देवताओं पर कृपा करता हुआ दैत्यों को मारकर विषमता स्वीकार करता है, देवता प्रिय हैं, और दैत्य अप्रिय हैं, इस प्रकार देवताओं का पक्षपात करता है, किन्तु देवताओं को ज्ञान नहीं देता है । इस प्रकार भगवान् जब अपने सर्वसम ब्रह्म रूप को ही अन्यथा-पलटकर

दूसरा' कर लेते हैं, अर्थात् विषम बना लेते हैं, तो फिर अपनी वाणी-वेद को, अर्थात् वेद विहित मर्यादामार्ग को अन्यथा उलटपलट–फेरफार बदलाबदल करे तो इसमें क्या कहने की बात है।

अतः जिस प्रकार आदि पुरुष भी-भगवान् भी देव-क्रीडापर होकर जिस प्रकार देवलोक का रक्षक हुआ है, उसी प्रकार क्रीडा के लिये अवतीर्ण हुए आप भी धर्ममर्यादा रक्षक हमारे साथ सम्बन्ध करो। यह भाव है। अब गोपियां कहे हुए भाव को रस पोषण करने के लिये व्याज से कहती हैं 'तन्नो निधेहि' प्रथम आप हमारे शिर पर हस्त स्थापन करो, जिससे हम भयरहित हो जाये, फिर हमारे हृदय में जो ताप हो रहा है, उसकी निवृत्ति के लिये हमारे स्तनों पर अमृत स्रावि-तापनाश करने वाला हस्तकमल निरन्तर स्थापन करो। इस प्रकार करना अनुचित रीति नहीं है, कारण कि हम सब आप की किङ्करी-दासी हैं। अथवा जो हमने अपनी परिस्थिति आर्ति आदि आपसे कही है, उसकी 'गोपियों का कहना ठीक है अथवा नहीं है' परीक्षा लेने के लिये आपको हमारे मस्तक और स्तनों में स्पर्श करके देखना चाहिये, इस प्रकार रसयुक्त वचन गोपियों ने कहा है॥ ४१॥

(सुबो०) एवं प्रार्थनायां भगवान् तदाह इतीति।

इस प्रकार गोपियों द्वारा प्रार्थना करने पर भगवान का कर्तव्य शुकदेव जी आगे कहते हैं—

श्रीशुक उवाच—

इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः।
प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत्॥ ४२॥

पदपदार्थ—(इति) इस प्रकार (तासां) गोपियों का (विक्लवितं) परम विकलता युक्त वाक्य को (श्रुत्वा) सुनकर (योगेश्वरेश्वरः) योगेश्वरों के ईश्वर (आत्मारामः) आत्मा में रमण करने वाले (अपि) भी (प्रहस्य) हँस करके (सदयं) दयासहित (गोपीः) गोपियों को (अरीरमत्) रमण कराया॥ ४२॥

भाषार्थ—शुकदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार गोपियों का परम विकलता युक्त वाक्य श्रवण कर योगेश्वरों के ईश्वर भगवान् आत्माराम भी हँस कर सदय हो गोपियों को रमण कराये।

(सुबोधिनीकारिका)

षड्गुणैश्वर्यभावेन षोढा रेमे हरिः स्वयम्।
स्वरूपेणापि शृङ्गारो द्विविधोऽपि निरूपितः॥ १॥
सामान्यरमणं पूर्वं विशेषे मेलनं पुरा।
बाह्येन रमणं पश्चादान्तरं च ततः परम्॥ २॥
ततो नाना विलासेन जातकेलिविभेदतः।
विप्रलम्भस्य सिद्ध्यर्थं तासां मानमुदीर्यते॥ ३॥
तिरोभावस्ततश्चापि नायं लौकिककामुकः॥ ३½॥

अब श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि छै श्लोक में भगवान् का रमण स्वकार्यसहित कहा है, छै ही श्लोकों से भगवान् का रमण क्यों कहा, इसमें संख्यातात्पर्य इस प्रकार है कि 'षड्गुणैश्वर्यभावेन' भगवान् में ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री,ज्ञान और वैराग्य, ये छै गुण रहते हैं, इसलिये छै गुणों के भाव से भगवान् का रमण छै श्लोक में कहा है।

भागवत में परमकाष्ठापन्न वस्तु भगवच्छब्दसे कही है, भगवान्-अर्थात् छै गुणवान उसका अर्थ है, परम काष्ठापन्न वस्तु भगवान् हैं, प्रकृत में रमण कहा है, रमण विविध भाव से साध्य है, विविध भाव निर्विकार ब्रह्ममें संभव नहीं होते हैं, इसलिये यदि कोई बहिर्मुख शंका करे कि भगवान् ने रमण माया द्वारा प्राकृत गुणों के सम्बन्ध से किया है।

तब इस शंका का निरास रमण निरूपक श्लोकसंख्या द्वारा ही रमण का स्वरूप निरूपण करके किया है, इसी बात को 'षड्गुणैश्वर्यभावेन' इसके द्वारा कहा है, छै गुणों में भगवान् का स्वामिभाव है, इसलिये जिस प्रकार के रमण में जिस समय जिस गुण का उपयोग होता है, उस समय उसी गुण का प्राकट्य करके भगवान् छै प्रकार से स्वयं रमण करते हैं।

यहां पर भी इसी प्रकार किया है, माया आदि के अधीन होकर रमण नहीं किया है, इसीसे कारिकामें 'स्वयं' पद कहा है।

रमण संयोग शृङ्गारात्मक किया हे, अन्तका श्लोक 'तासां तत्सौभगमदं' इसमें तिरोधान निरूपण करने से विप्रलम्भात्मक शृङ्गाररूप से भी रमण किया है, इसलिये यहां पूर्णरस का निरूपण है। इसी बात को कहते हैं कि 'स्वरूपेणापि' संपूर्ण स्वरूपसे भगवान् ने रमण किया है।

श्लोक ४२ से ४७। छै में 'मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि' यहां तक संयोगात्मक शृङ्गार रूप से रमण किया है।

फिर ४८ से श्लोक में छै गुणों को स्वरूप भूत करके धर्मी रूप से तिरोभावलीला करके विप्रलम्भात्मक शृङ्गाररूप से रमण किया है। इस प्रकार सात श्लोक में दोनों प्रकार का शृङ्गार निरूपण किया है॥ १॥

अब वाक्यार्थ कहते हैं कि 'सामान्यरमणं' प्रथम ४२ वे श्लोक 'इति विक्लवितं' इसमें भगवान् ने सामान्य रमण किया है, (विशेषे मेलनं पुरा) आगे विशेष रमण करने लिये प्रथम सङ्गम है, वह सङ्गम 'ताभिः समेताभिः' इस श्लोक द्वितीय ४३ में कहा है।

विशेषरमण दो प्रकार का है, 'बाह्येन रमणं पश्चादान्तरं' १ बाह्यरमण, स्वरूपसे होता है, अर्थात् अङ्गस्पर्शादि बाह्य प्रकार से विलासपूर्वक गति कटाक्षादि के द्वारा कामका उद्बोध करके होता है। बाह्यरमण 'उपगीयमान उद्गायन्' इस ४४ वें श्लोक में कहा है। 'आन्तरं च ततः परम्' २ तीसरे में आन्तर रमण कहा है, साक्षात् अङ्गस्पर्शादिरूप स्वरूपनिष्ठ बन्धादि प्रकार वाला आन्तर रमण है 'नद्याः पुलिनमाविश्य' इस ४५ वे श्लोक में अजातस्मरकेलि विलास कहा है।

'ततो नाना विलासेन जातकेलिविभेदतः' फिर जात केलि भेद से नाना विलास रमण है, विलास अजातस्मरकेलि, और जातस्मरकेलि दो प्रकार के हैं, इसलिये दो श्लोक हैं। नाना विलास से रमण जातस्मरकेलि विलास में होता है, उसका वर्णन 'बाहुप्रसार' इस ४३ वें श्लोक में किया है।

अर्थात् ४२ वे श्लोक में सामान्य रमण, फिर तीन ४३। ४४। ४५ में विशेष रमण-अर्थात् ४३ में समागम ४४ में बाह्य रमण ४५ में आन्तर रमण और इसमें जातस्मरकेलिविलास

है, इस प्रकार ४६ छै श्लोक तक का विवरण है, अब छठे ४७ श्लोक का अर्थ कहते हैं कि 'विप्रलम्भस्य सिद्धयर्थं'' विप्रलम्भ-वियोग की सिद्धि के लिये 'एवं भगवतः कृष्णात्' इस ४७ वे श्लोक में गोपियों का मान कहा है। मान का प्रयोजन विप्रलम्भ की सिद्धि है।

'तिरोभावस्ततश्चापि' फिर 'तासां तत्सौभगमदं' इस ४८ वें श्लोक में भगवान् के तिरोभाव का वर्णन है।

यदि कहो कि भगवान् ने नायिकाओं का मान दूर करने के लिये अनुनय वाक्य नहीं कहे, किन्तु तिरोधान किया है, रसशास्त्र की मर्यादा है कि मान में नायिकाओं को मनाया जाता है, फिर भगवान् ने गोपियों को क्यों नहीं मनाया।

इसके उत्तर में कहते हैं, कि 'नायं लौकिककामुकः' भगवान् लौकिक कामी पुरुष नहीं हैं। यदि भगवान् प्राकृत कामी पुरुष की तरह होते तो स्त्रियों के प्रेक्षण आदि से जिस प्रकार का भी पुरुष को काम-भाव उत्पन्न हो जाता है, और काम-भाव से शरीर के अङ्गों में विकार उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार गोपियों के देखने से भगवान् को भी काम भाव उत्पन्न होकर शरीर के अङ्गों में विकार उत्पन्न हो जाता और फिर प्राकृत पुरुष की तरह विकार का नाश भी होता, किन्तु इस प्रकार हुआ नहीं है, कारण कि 'रसो वै सः' इत्यादि श्रुतियों से परमात्मा का स्वरूप ही रसात्मक है, अतः रसशास्त्रसिद्ध जितने भेद वर्णन किये हैं, वे सर्वरूप भगवान् के स्वरूप ही हैं। इस प्रकार का ही पुरुषोत्तम स्वरूप है। इसलिये भगवान् लौकिक कामी पुरुषकी तरह नहीं हैं।

जिस प्रकार भगवान् का दैत्यों के समक्ष वीररूप से आविर्भाव होता है, कारण कि दैत्यों का इसी प्रकार का अधिकार है, उसी प्रकार गोपियों के समक्ष आगे भगवान् रसरूप से ही प्रकट होते हैं, कारण कि गोपियों का अधिकार इसी प्रकारका है। इस प्रकार यह यहां हृदय है ॥ १॥ ॥

(सुबो०) प्रथमं तासां तापापनोदनार्थं सामान्यलीलामाह। इति तासां विक्लवितं परमवैक्लव्यभाषितं श्रुत्वा प्रहस्य अरीरमत्। ननु निरिन्द्रियः कथं रेमे, तत्राह, योगेश्वराणामपीश्वर इति। योगादिषु सर्वे पदार्थाः स्फुरन्ति, अणिमादयोऽपि, तथा तदैव स्वरूपमेवेन्द्रियादिभावेन प्रकटीकृतवान्। न तु स्वस्य कामेन। तथा सति बीजनिवृत्तौ कामो निवर्तेत। तासां यथा न कदाचिदपि स भावो गच्छति, तदर्थं प्रहस्य प्रकर्षेण हास्यं कृत्वा, तासामुद्धरणार्थं, न तु भिन्नगणनया मर्यादायां पातयित्वा नाशनार्थमिति। तदाह सदयमिति। गोपीरेवारमयत्, स्वयं त्वात्माराम एव। तासां रसाधारत्वाय वा सदयम्।

क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामो न विद्यते।
तासां कामस्य सम्पूर्तिर्निष्कामेनेति तास्तथा ॥ १ ॥
कामेन पूरितः कामः संसारं जनयेत् स्फुटः।
कामाभावेन पूर्णस्तु निष्कामः स्यात् न संशयः ॥ २ ॥

अतो न कापि मर्यादा भग्ना मोक्षफलापि च।
अत एतच्छ्रुतौ लोको निष्कामः सर्वथा भवेत् ॥ ३ ॥
भगवच्चरितं सर्वं यतो निष्काममीर्यते।
अतः कामस्य नोद्बोधः ततः शुकवचः स्फुटम् ॥ ४ ॥

आत्मारामस्य आत्मनैव रमणं व्यावर्तयितुमपि-शब्दः। अरीरमत् बहुधा रेमे। उत्तरोत्तरं रसाधिक्यं च प्रकटितवान् ॥ ४२ ॥

प्रथम गोपियों का ताप दूर करने के लिये भगवान् ने सामान्यलीला की है, उसको शुकदेवजी कहते हैं। 'इति'।

इस प्रकार गोपियों का परम विकलता युक्त भाषण सुनकर, भगवान् हँसे, और हँस कर गोपियों को रमण किया।

यदि कहो कि भगवान् तो निरिन्द्रिय हैं, भगवान् को इन्द्रियां नहीं हैं, कारण कि इन्द्रियां होने पर ही, इन्द्रियों से स्त्रियों का प्रेक्षण आदि होता है, और प्रेक्षणादि से उत्पन्न काम द्वारा गोलक छोटा-बड़ा होता है, फिर भगवान् ने रमण कैसे किया।

यदि कहो कि परिदृश्यमान साकार ब्रह्म में गोलक प्रत्यक्ष दीखते हैं, इसलिये इन्द्रियों का भी स्वीकार करना चाहिये। तो फिर जो स्वरूप प्रत्यक्ष दीख रहा है, उससे अन्य वस्तु ब्रह्म में आजाने से स्वगत द्वैत हो जायेगा, जिस प्रकार वृक्ष और उसके पत्रमें स्वगत द्वैत होता है, उसी प्रकार ब्रह्म में भी स्वगत द्वैत हो जायेगा। स्वगत द्वैत शुद्धाद्वैत सिद्धान्त में नहीं है। कारण कि 'सजातीयविजातीयस्वगतद्वैतवर्जितम्।' ब्रह्म, पुत्रादिवत् सजातीय और वृक्षादिवत् विजातीय, तथा वृक्ष और उस के पत्रादिवत् स्वगत द्वैत वर्जित है, इस प्रकार कहा है। इस लिये जो गोलक दीखता है, वह ब्रह्म ही है, साकार ब्रह्म स्वरूप में चक्षु आदि इन्द्रियों को ब्रह्म स्वरूप से पृथक् स्वीकार नहीं किया है, और न सूर्यादि देवताओं को ही ब्रह्मस्वरूप से पृथक् स्वीकार किया है, किन्तु ब्रह्म ही दर्शनादि रूप कार्य को करता हुआ चक्षुरादि शब्द से कहा जाता है।

'पश्यन् चक्षुर्वदन् वाग्' इत्यादि श्रुतियों में, तथा इसी प्रकार तृतीयध्याय भाष्य में भी प्रतिपादन किया है।

निरिन्द्रिय भगवान् ने कैसे रमण किया, इस शंका का उत्तर भी शुकदेव जी देते है कि (योगेश्वरेश्वरः)

ब्रह्मा शिवादि योगियों के भी भगवान् ईश्वर हैं, योग और ज्ञान में सर्व पदार्थों की अपने आप स्फूर्ति होती है, और इन्द्रियादि के बिना ही ज्ञानक्रिया का उपयोग होता है, अणिमादि सिद्धियां भी प्राप्त होती हैं।

योगेश्वर ब्रह्मा आदि को जिस समय जानने की इच्छा होती है, उस समय वे ज्ञान योग–ज्ञान और कर्मेन्द्रियरूप होते हैं, यह निबन्ध पुरञ्जन के प्रसङ्ग में निरूपण किया है। भगवान् तो योगेश्वरों के भी ईश्वर हैं, अतः यहां भी रमण करने के समय भगवान् ने अपना स्वरूप ही इन्द्रिय प्राण मन देह काम भाव से प्रकट किया है।

भगवान् स्वरूप से ही सर्व कार्य करते हैं, पृथक् अलौकिक इन्द्रियां भी आपने स्वीकार नहीं की हैं, किन्तु इन्द्रिय आदि भाव से प्रकट हो कर ब्रजसुन्दरियों के प्रेम का फल देने के लिये गोपियों के भावानुसार तादृश भावविशेष इन्द्रियादिरूप स्वरूप प्रकट किया है।

भगवान् ने अपने काम से रमण नहीं किया है।

यदि भगवान् प्राकृत मनुष्य की तरह काम से प्रेरित होकर रमण करते, तो बीज की निवृत्ति-वीर्यसिञ्चन होने पर काम की भी निवृत्ति हो जाती, किन्तु भगवान् के काम की निवृत्ति नहीं हुई। इसलिये भगवान् ने कामवश हो कर यह संपूर्ण लीला नहीं की है, यह सिद्ध होता है। गोपियों का जो भगवान् में भाव है, वह कभी भी नहीं जाये, इसके लिये भगवान् खूब हँसे हैं, भगवान् का हास मोह करता है, किन्तु यहां पर खूब हंसने का प्रयोजन गोपियों का सख्य में अङ्गीकार करना ही है।

यदि भगवान् गोपियों को सख्य प्रदान नहीं करते तो भगवान् के रूपानुसार गोपियों में साम्यभाव नहीं होने से रस नहीं होता। अतः गोपियों को भगवान् ने अपने समान योग्य बनाया।

जिस समय कोई समान बन जाता है, उस समय अपने से भिन्न गणना नहीं होती है, इस प्रकार सख्यता का स्वभाव है। अपने से भिन्न गणना तो मर्यादामार्ग में अङ्गीकार होने पर होती है।

भगवान् इस प्रकार के भाववाली गोपियों को यदि मर्यादामार्ग में डाल देते, तो भक्ति-पुष्ठि मार्ग की मर्यादा नष्ट हो जाती, अतः भगवान् ने भक्तिमार्ग की मर्यादा रखने के लिये गोपियों को हँस करके सख्यभावका अपने रूप समान दान दिया है, गोपियों के उद्धार करने के लिये। उद्धार गोपियों के उत्कट ताप से हुआ है कारण कि गोपियों का तीव्रताप देख कर ही उद्धार करने के लिये भगवान् को दया हुई है, इसलिये भगवान् ने हँस कर गोपियों का ताप भी नष्ट कर दिया है। नहीं तो भगवान् का हास रसाभास का हेतु हो जाने से यहां दया का होना नहीं कहते।

प्रथम व्याख्यान में 'प्रहस्य अरीरमत्' इस प्रकार सम्बन्ध है, और द्वितीय व्याख्यान में 'अथवा' से मूल में 'सदयं रेमे' इस प्रकार सम्बन्ध है। यह रमण पहिले कभी नहीं हुआ, और यह रमण सामान्य रूप है, इसलिये यहां इस रमण में पूर्ण रसदान नहीं है, पूर्ण रसका दान तो आगे है, कारण कि इस समय गोपियों में भगवान् के तुल्य सामर्थ्य नहीं है, अतः भगवान् यदि अधिक क्रियाशक्ति का आविर्भाव करके नायिकाओं का उपमर्दन करते हैं तो रस का नाश हो जाये, इस लिये रस नष्ट नहीं होने के लिये भगवान् ने दया की है।

यद्यपि इस प्रकार से रस पुष्ट नहीं होता है, तथापि रसाभास और भावाभासों से रस पुष्ट होता है, इस लिये यहां किया सामान्य रमण आगे रसपोषण करने के लिये उपयुक्त होता है, इसी से आभास में 'तापापनोदनार्थं सामान्यलीलामाह' ताप दूर करने के लिये सामान्य लीला कहते हैं, इस प्रकार श्रीमहाप्रभु जी ने कहा है।

'सदयं गोपीरेवारमयत्' सदय भगवान् ने गोपियों को ही रमण कराया, स्वयं भगवान् तो आत्माराम ही हैं, अपने स्वरूप में ही रमण करते हैं, अर्थात् गोपियों का भगवान् के साथ रमण है, भगवान् तो स्वरूप में ही रमण करते हैं। इस प्रकार आगे 'रेमे तया चात्मरतः' यहां पर कहेंगे।

अथवा सदय पद का अर्थ इस प्रकार है कि, गोपियां स्वयं इसका आधार हो जायें, भगवान् ने अपनी क्रियाशक्ति इस प्रकार की कि गोपियां इसका आधार बन गईं।

अब पहिले सुबोधिनी में 'क्रिया सर्वापि' इत्यादि कारिका कही हैं उनका आशय स्फुट करते हैं।

यदि कहो कि 'बाहुप्रसारपरिरम्भ' इत्यादि ४६वें श्लोक में लौकिक सदृश क्रिया की प्रतीति होती है, और वह लौकिक क्रिया प्रतीति काम बिना हो नहीं सकती है, इसलिये काम को भी स्वीकार करना चाहिये। काम को स्वीकार करने पर भगवान् की लीला में प्राकृतता ही हो जायेगी।

अथवा परार्थ रमण में भी योगेश्वर कहने से भगवान् का योगियों की तरह रमण प्राप्त होता है, योगी लोग संकल्पमात्र से ही अपेक्षित पदार्थ का विधान कर लेते हैं, 'संकल्पादेव च तच्छ्रुतेः' यह मतान्तर सिद्ध है। तत्तत्पदार्थ विधान करने का संकल्प काम जनक है, काम को उत्पन्न करता है, इसलिये काम की सिद्धि भी होती है, फिर भगवान् को 'आत्मारामत्व' आत्मा में ही रमण करना कैसे युक्त होता है।

इस प्रकार आकांक्षा करने पर भगवान् को आत्मारामत्व प्रतिपादन करने के लिये श्रीमदाचार्य कहते हैं कि 'क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामो न विद्यते' यहां भगवान् और भक्त दोनों में अलौकिक और लौकिक काम का अभाव है। अभाव इसी बात को ज्ञापन करते हैं 'क्रिया-रमणोपयोगी' 'सर्वा' सर्वरस उद्बोधन करनेवाली, तथा रसपोषण करनेवाली, तथा रसपूर करनेवाली, 'अपि' शब्द से रस के अवान्तर भेद से भिन्न समस्त क्रिया, 'सैव' 'रसो वैसः' इस श्रुति से भगवान् रसात्मक हैं, इसलिये रसशास्त्र-कामशास्त्र सिद्ध ही, 'अत्र' इस रमण में हैं। लोक में रस सम्बन्धिनी क्रिया लौकिक कामविषयणी ही प्रसिद्ध है, भगवान् की भी चेष्टा लौकिकी सजातीय है, अतः काम भी लौकिक ही होगा, इस प्रकार किसी भ्रान्त को शंका हो तो इस शंका के दूर करने के लिये कहते हैं कि 'परं कामो न विद्यते' 'परं' किन्तु केवल लौकिक काम नहीं है। इसलिये यहां योगियों की तरह भी रमण नहीं है, किन्तु जिस प्रकार योग में अणिमादि सर्व पदार्थ की स्फूर्ति होती है, उसी प्रकार यहां योगेश्वरों के ईश्वर भगवान् हैं, अतः रमण के उपयोगी सर्व वस्तु ध्यानगोचर करके अपना स्वरूप ही इन्द्रियादि भाव से प्रकट किया है।

जिस प्रकार पुरुषविध ब्राह्मण में 'स वै नैव रेमे' इत्यादि से रमणादि कहकर पश्चात् 'सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत्'।

उपसंहार में काम का अभाव ही कहा है। कारण कि भगवान् की इच्छा भी स्वरूप से पृथक् नहीं है, इसी प्रकार यहां भी जिस प्रकार योगी जन को क्रिया करने पर भी आत्मारामता है, उसी प्रकार भगवान् को यहां भी आत्मारामत्व है।

यदि कहो कि श्रुति में कही लीला स्वाभाविकी स्वार्था-भगवान् ने अपने लिये ही की है। और प्रकृत लीला यहां परार्था-गोपियों के लिये की है, अतः आगन्तुकी है, और यह लीला जिन गोपियों के लिये की है, इह लीला उन गोपियों के अनुरूप ही होगी, कारण कि सर्वत्र ये ही प्रकार देखने में आया है, अतः जिन गोपियों के लिये यह लीला है वे गोपियां तो तुम्हारे सुन्दर स्मित युक्त निरीक्षण से उत्पन्न तीव्र काम से तप्त आत्मावाली हैं, इस प्रकार प्रथम ३८वें श्लोक में गोपियों की सकामता का निरूपण किया है, अतः सकाम गोपियों के सम्बन्ध से लीला को भी कामपूरकत्व है, तो फिर कामोपाधि ही सिद्ध होती है, फिर भगवान् को आत्मारामत्व कैसे सिद्ध होता है।

इस शंका का उत्तर देते हैं कि 'तासां कामस्य संपूर्तिः निष्कामेनेति तास्तथा ।'

गोपियों के काम की पूर्त्ति निष्काम भगवान् ने की है, इसलिये गोपियां भी निष्काम हैं, लीला भगवद्धर्म रूप हैं, और सब श्रुतियों ने भगवान् को निष्काम कहा है, इसलिये भगवान् ने धर्मरूप लीला द्वारा गोपियों का काम पूर्ण किया है, अतः गोपियां भी निष्काम हैं।

श्रुति में 'अथाकामयमानः' इस प्रकार प्रतिज्ञा करके 'योऽकामो निष्काम आत्मकामः' इस कथन से आत्मकाम का निष्काम कोटि में प्रवेश है, प्रकृत में 'सन्त्यज्य सर्वविषयान्' इस वाक्य से आत्मकामता से निष्कामता स्पष्ट ही है।

भगवान् ने गोपियों के काम की पूर्ति 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान्' इस श्रुति के अनुसार की है। इसलिये भगवान् की कृति में निष्कामता है। इसी से भगवत्सम्बन्ध के कारण गोपियां भी निष्काम हो गई।

यदि भक्तों में लौकिक काम होता तो फिर अलौकिक भगवान् के काम से पूर्ण नहीं होतीं, कारण कि परस्पर लौकिक अलौकिक में एकजातीयता नहीं होती है, और विजातीय काम से विजातीय काम का पूर्ण होना संभव नहीं हो सकता है। अतः भगवान् के अलौकिक काम से ही गोपियों के काम की पूर्ति हुई है, इसलिये गोपियां भगवान् के तुल्य हो गई इसी बात को ज्ञापन करने के लिये कारिका में 'तास्तथा' इस प्रकार कहा है।

जिस प्रकार अप्राकृत भगवान् लौकिक कामरहित हैं, उसी प्रकार अप्राकृत गोपियां भी लौकिक कामरहित हैं। यदि इस बात को नहीं मानते हैं तो भगवान् के पूर्ण रस का उद्बोधन नहीं होगा, कारण कि न्यून तथा अधिक होने से भाव विजातीय हो जाता है।

इस बात को प्रथम कह चुके हैं कि भगवान् में काम नहीं है, और भगवान् के सम्बन्ध से भक्तों में भी नहीं है। तो फिर लौकिक तथा अलौकिक दोनों प्रकार के काम का अभाव होगा। और यदि दोनों प्रकार के काम का अभाव मानेंगे तो पञ्चम अध्याय की कारिका से विरोध हो जायेगा, वहाँ पर लौकिक काम का निषेध करके भगवान् में अलौकिक काम का निरूपण किया है,

'अत्रैव लोके प्रकटमाधिदैविकमुत्तमम्।
कामाख्यं सुखमुत्कृष्टं कृष्णो भुङ्क्ते न चापरम्' ॥ १ ॥

इस कारिका में कामसुख आधिदैविक उत्तम कहा है। और प्रभु को भी कर्तृत्व कहा है, इसलिये लौकिक काम का ही निषेध किया है। अलौकिक काम का निषेध नहीं किया है, अतः भगवत्भोग्या गोपियों में भी अलौकिक काम है, नहीं तो भगवन् को भोक्तृत्व नहीं हो सकता है। अतः युक्त ही कहा है कि 'तास्तथा' गोपियां भी भगवत्तुल्य निष्काम हैं।

यद्यपि आपके कथनानुसार ही है, तथापि गोपियों के 'संत्यज्य' सर्वत्याग करके आपके पादमूल में आई हैं, इस वाक्य में आत्मकामत्व की तरह त्वत्सुन्दरस्मित' इस श्लोक में पहिले से अतिरिक्त कामभाव का भी निरूपण गोपियों का स्पष्ट ही है। इसलिये सर्वथा निष्काम तो गोपियां हो नहीं सकती है।

इस प्रकार के जानने की इच्छा में गोपियों का वाक्य स्वीकार करके गोपियों में कामभाव होते हुए भी निष्कामत्व का परिचय कराने के लिये कहते हैं कि 'कामेन पूरितः कामः संसारं जनयेत् स्फुटः'।

यदि भगवान् ने प्राकृत काम से गोपियों के काम की पूर्ति की होती तो संसार की उत्पत्ति भी होती, जिस प्रकार द्वारका-लीला में महर्षियों को काम था, उसका प्रद्युम्नरूप से अमोघ वीर्य भगवान् ने काम द्वारा पूरित किया और पुत्रादि रूप संसार उत्पन्न करता हुआ काम प्रकट

हुआ, उस प्रकार यहां मूलरूप के काम द्वारा पूरित गोपियों का काम पूर्ण होता तो यहां भी पुत्रादिरूप संसार उत्पन्न करता हुआ काम प्रकट होता, किन्तु यहां प्रकट नहीं हुआ है, इसलिये यह काम काम से पूरित नहीं है। और गोपियों का काम पूर्ण किया है, अतः कामाभाव से ही पूर्ण किया है। इसलिये निष्काम हैं, अग्नि से आविष्ट काष्ठ की तरह, अर्थात् जिस प्रकार अग्नि के प्रवेश से काष्ठ का स्वरूप ही नहीं रहता है, उसी प्रकार काम स्वरूप ही निवृत्त हो गया, काम का स्वरूप होता तो संसारोत्पत्ति-पुत्रादि सन्तति अवश्य होती, कारण कि प्राकृत मनुष्यों में सर्वत्र संसारोत्पत्ति दीखती है। यहां के भक्तों में संसार नहीं हुआ है, इसलिये प्राकृत काम का अभाव निःसंदेह है।

यदि कहो कि इस प्रकार की औषधियां हैं कि जिनका सेवन करने से स्त्रियां महा वन्ध्या हो जाती हैं, और ऋतु-काल में स्त्री-पुरुष का संगम आदि नहीं होने से भी स्त्री गर्भवती नहीं होती है, अतः तुमने जो हेतु संसारोत्पत्ति का कहा है वह साधारण है।

इस शंका का उत्तर देते हैं कि 'न संशयः' इसमें संशय नही करना चाहिये, कारण कि भगवान् ने भावी रमण के समय में कहा है कि 'न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते। भर्जिताः क्वथिता धाना भूयो बीजाय नेशते' मुझ में जिसने अपनी बुद्धि लगा दी है, उनका काम काम के लिये नहीं हैं, भुंजे हुए, तथा अग्नि में उबले हुए धान फिर बीज के लिये समर्थ नहीं होते हैं। जिस प्रकार जले हुए कपड़े का आकारमात्र प्रतीत होता है, उसी प्रकार यहां क्रिया की समानता से भगवान् और गोपियों में काम की प्रतीति होती है। किन्तु भगवान् और भक्तों में प्राकृत काम नहीं है।

इसमें हेतु कहते हैं कि 'अतो न कापि मर्यादा भग्ना मोक्षफलापि च' इससे यहां रसशास्त्र की, और ब्रह्मधर्म की मर्यादा का भङ्ग नहीं हुआ है। ब्रह्मधर्म की मर्यादा भङ्ग नहीं होती, इसको पहिले भी सिद्ध किया है, और रसशास्त्र की मर्यादा तो भगवान् के धर्मादि गोपियों में प्रविष्ट होने से गोपियां भगवान् के तुल्य हो गई हैं, उस समय 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इस श्रुति के अनुसार गोपियों का स्वरूप हो गया, इस प्रकार निगूढाशय है। कारण कि यह भाव अलौकिक है, इसलिये मर्यादा मार्गीय मोक्ष की इच्छा करनेवालों की भी प्रवृत्ति का बाध नहीं होता है, कारण कि मोक्षमार्ग में जिसमें काम नहीं है, उसका ही अधिकार है, इसी बात को श्रुति कह रही है कि 'श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य' इत्यादि।

अतः इस काम को यदि प्राकृतत्व हो, तो कामभाव से की हुई लीला भी प्राकृत होगी, तो फिर इस लीला के श्रवण में लौकिक काव्य आदि की तरह काम का ही उद्बोध होता, और विपरीत फल प्राप्त होता, मोक्षफल प्राप्त नहीं होता, तो फिर इस लीला के श्रवण में जीव की प्रवृत्ति भी नहीं होती, अतः यह लीला प्राकृत कामभाव से नहीं की है।

मूल में 'च' शब्द का अर्थ यह है कि इस लीला के करने में भक्तिमार्गीय मर्यादा भी भङ्ग नहीं हुई है, इसलिये यह भाव अलौकिक है, इस लीला के श्रवण करनेवालों को फल प्राप्त होता है, अतः इस लीला में प्रवृत्ति होती है, इसी बात को आगे कहते हैं कि 'अत एतच्छ्रुतो लोको निष्कामः सर्वथा भवेत्' इस लीला के श्रवण करने पर लोक सर्वथा निष्काम हो जाता है।

यदि कहो कि काम लीला के तो श्रवण मात्र से ही लौकिक काम भाव उत्पन्न हो जाता है, फिर तुम कहते हो इस लीला के श्रवण से सर्वथा निष्काम हो जाता है, यह कैसे संभव हो सकता है। इसका उत्तर देते हैं कि 'भगवच्चरितं सर्वं यतो निष्काममीर्यते' भगवान् का सर्वचरित

निष्काम है। कारण कि वस्तु-स्वभाव ही इस प्रकार का है, जो वस्तु जिस प्रकार की होती है, वह अन्य अपने में स्थित वस्तु को भी अपने तुल्य बना लेती है।

यह भगवान की लीला लौकिक काम रहित है, इसमें अलौकिक काम देवता रूप का प्रतिपादन किया है, अतः इस लीलापरायण मनुष्य भी लौकिक काम रहित होकर अलौकिक निर्हेतुक भगवद्भाव युक्त हो जाता है, किन्तु इस लीला का श्रवण लीलातात्पर्य अवधारण पूर्वक होना चाहिये, साधारण रीति से नहीं होना चाहिये, 'अतः कामस्य नोद्बोधः' यह लीला लौकिक काम रहित है, इसलिये इस लीला के श्रवण करने से लौकिक काव्य श्रवण की तरह लौकिक काम का उद्बोध नहीं होता है, इसी से 'कामं हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः' इस शुकवाक्य में स्पष्ट कहा हैं। अतः मोक्षफल देनेवाली मर्यादा भी भग्न नहीं हुई है, कारण कि कामभाव रहते मोक्ष नहीं होता है, कामभाव के अभाव में ही मोक्ष होता है। अतः लक्षण भी भग्न नहीं होता है।

यदि कहो कि कामलीला श्रवण से लौकिक भाव की उत्पत्ति होती है, तो फिर लौकिक भाव अवश्य ही होगा, लौकिकभाव होने पर मोक्ष से विपरीत प्रयोजन इस लीला के श्रवण से होगा।

इस शंका का उत्तर यह है कि 'भगवच्चरितं सर्वं'।

स्वभाव से वस्तु और भगवान् अद्भुतकर्मा हैं, अतः इस लीला के श्रवण करने से काम का उद्बोध नहीं होता है। शुकदेव जी ने भी इस लीला के श्रवण कीर्तन आदि का फल कामाभाव ही 'काममपहिनोति' काम दूर करना ही प्रकट कहा है।

यद्यपि 'हृद्दोषमपहिनोति' हृदय का दोष दूर करता है, इस प्रकार कहना चाहिये था, कारण कि इतने कहने से ही चरितार्थता हो जाती है, तथापि उक्त लीला का स्वरूप ज्ञापन करने के लिये काम का नाम स्फुट कहा है॥ ४२॥

मूल श्लोक में 'अपि' शब्द है, इससे यह सूचन होता है कि आत्माराम भगवान् ने केवल आत्मा से ही रमण नहीं किया, किन्तु मन वाणी प्राण इन्द्रिय और शरीर से भी किया है।

इस प्रकार यह भगवान् का सामान्य रमण उत्तरोत्तर पुष्ट होकर अध्याय पर्यन्त विवृत होगा, इस आशय से कहते हैं कि 'अरीरमत्' भगवान् ने बहुत प्रकार से रमण किया, और उत्तरोत्तर अधिक रस प्रकट किया है॥ ४२॥

(सुबो०) एवं सामान्यलीलामुक्त्वा विशेषलीलामाह। ताभिरिति त्रिभिः।

इस प्रकार भगवान् की सामान्य लीला वर्णन करके आगे तीन श्लोक में विशेष लीला वर्णन करते हैं।

ताभिः समेताभिरुदारचेष्टितः प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युतः।
उदारहासद्विजकुन्ददीधितिर्व्यरोचतैणाङ्क इवोडुभिर्वृतः॥४३॥

पदपदार्थ—(प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिः) प्रिय के दर्शन से उत्फुल्ल-खिले हुए मुखवाली (समेताभिः) एकत्रित हुईं (ताभिः) गोपियों से (उदारचेष्टितः) उदार चेष्टावाले (उदारहासद्विजकुन्ददीधितिः) उदारहासयुक्त कुन्दपुष्प सदृश दांतों में कान्तिवाले (अच्युतः) च्युतिरहित भगवान् (उडुभिः) नक्षत्रों से (वृतः) व्याप्त-घिरा हुआ (एणाङ्कः इव) चन्द्र की तरह (व्यरोचत) शोभित हुआ॥ ४३॥

भाषार्थ—प्रिय के दर्शन से खिले हुए मुखवालीं एकत्रित हुईं गोपियों के साथ उदार चेष्टित और उदारहासयुक्त कुन्दपुष्प सदृश दांतों में कान्तिवाले अच्युत भगवान् तारागणों से आवृत चन्द्र की तरह शोभित हुए हैं।

(सुबो०) अजातस्मरकेलिभिः प्रथमतः ताभिः समेतो जातः मिलितः। पूर्वं भयात् पृथक्स्थिताः। तत उदाराणि चेष्टितानि यस्य। अत्र औदार्यं रसविषयकम्। यथा तासां महानेव रस आविर्भवति, तथा कामशास्त्रसिद्धलीलाः सर्वा एव कृतवान्। ततस्ता अन्तः पूर्णरसाः। प्रियस्य भगवत ईक्षणार्थमुत्फुल्लानि मुखानि यासां तादृश्यो जाताः। प्रियेक्षणेन वा सूर्यकिरणैरिव उत्फुल्लानि मुखानि। वस्तुतो लोभस्थितरसार्थमेव तथा करणम्। एतावति कृते रसो निवर्तते, तदभावायाह अच्युत इति। तासामपि रससमाप्त्यभावाय उदारेति। उदारो यो हासः पूर्णकामप्रदः, कामार्थमेव यो मोहः तेनैव स्नेहः संवर्धितः। तदाह। हाससहिता ये द्विजाः त एव कुन्दपुष्पाणि, आरक्तान्यपि हासेन शुभ्राणि, तेषु दीधितिर्यस्य। कुन्दत्वं स्नेहस्यैतन्मात्रपर्यवसानार्थम्। (पूर्वं[1] निरुपाधिरेव स्नेहः स्थितः, भगवता परं रसशास्त्रोक्तरीत्या स्वरूपानन्दं दातुं तत्सजातीयः कामोपाधिकः स्नेहोऽधुना जनित इति ज्ञापनाय स्नेहरूपरदानां द्विजपदेन कथनम्।) तथा सति फलभोगात् कान्त्यभावमाशंक्य तत्र दीधितिरुक्ता। यद्यपि भगवान् तन्निर्बन्धेन रेमे, जगद्दोषनिराकरणार्थं च, नतु स्वयम्, तथापि न पूर्णमनोरथ इव, किन्तु यथा लौकिकः, तदाह दृष्टान्तेन। एणाङ्कः उडुभिः नक्षत्रैः सह यथा व्यरोचतेति। बन्धातिरिक्ताः सर्वा बाह्या एव लीला उक्ताः॥ ४३॥

भगवान् प्रथम ही अजातस्मर केलि गोपियों से जिनके साथ अभी तक कामक्रीडा नहीं की थी मिले, प्रथम गोपियां भय से पृथक् खड़ी थीं, अब पास में आ गईं, उस समय भगवान् ने उदार चेष्टा की, अर्थात् रसविषय की उदारता की कि जिससे गोपियों को महान् रस प्रकट हो जाये, उस प्रकार की सर्वकामशास्त्रसिद्ध स्पर्शादिलीला गोपियों के साथ की, अतः गोपियों के भीतर पूर्णरस प्रकट हो गया।

प्रिय भगवान् के दर्शनके लिये गोपियों के मुख उत्फुल्ल-विकसित हो गये अर्थात् गोपियों के मुख अञ्चलों से निर्गत हो गये, गोपियों ने अञ्चलों के आवरण हटाकर खोल लिये और भगवान् के दर्शन करने लग गईं।

अथवा जिस प्रकार सूर्य की किरणों से कमल खिल जाते हैं, उसी प्रकार प्रियदर्शन से उत्फुल्ल-विकसितमुख हो गये। वास्तव में तो भगवान् के अधर में स्थित रसपान करने के लिये गोपियों ने अपने मुख विकसित कर लिये हैं।

इस प्रकार जब गोपियों ने रसग्रहण करने के लिये उद्योग किया, तब भगवान् में प्रयत्न करने की शिथिलता आ गई, कारण कि जिस समय पुरुष की सामर्थ्य क्षीण हो जाती है, उस

---

१. () चिह्नान्तर्गतं प्रभूणाम्।

समय स्त्रियां पुरुष का अधरपान करती हैं, अधरपान करने में रस निवृत्त हो जाता है, अर्थात् पुरुष का प्रयत्न शिथिल हो जाती है।

कदाचित् भगवान् में भी इस प्रकार की शंका हो तो भगवान् का प्रयत्न शिथिल नहीं होता है और न भगवान् को निर्वेद ही होता है, इसी बातको आगे शुकदेवजी कहते हैं कि 'अच्युत' भगवान् अच्युत-च्युतिरहित हैं, इसलिये भगवान् ने गोपियों का कामाग्नि शान्त करने के लिये ही इस प्रकार यह सर्वलीला की है, परन्तु भगवान् को निर्वेद नहीं हुआ है।

यदि कहो कि भगवान् ने चेष्टित से ही रसविषयक उदारता करके गोपियों में महारस प्रकट कर दिया तो फिर हास उदारता कहने का प्रयोजन क्या है।

इसके उत्तर में कहते हैं कि गोपियां प्रौढा नहीं थीं, और इनके साथ अभी तक स्मरकेलि भी नहीं हुई थी, अजातस्मरकेलि थीं। इसलिये कदाचित् इन गोपियों में से रस समाप्त नहीं हो जाये, इसके लिये यहां हास उदारता का वर्णन किया है। उदार हास पूर्ण काम देनेवाला है, भगवान् ने काम के लिये ही हासरूपमोह से स्नेह बढ़ाया है, अर्थात् गोपियों का स्नेह भगवान् में कामभाव से ही वर्धित हुआ है। कारण कि गोपियों का भगवान् के साथ अत्यन्त निकट सम्बन्ध होने पर भगवान् के स्वरूप धर्मों का ज्ञान भी अवश्य सम्भव होता, और स्वरूपज्ञान होने पर फिर भगवान् के माहात्म्य की स्फूर्ति भी होना सम्भव है, स्फूर्त्ति होनेसे फिर गोपियों को भय उत्पन्न हो जाता, और भयोत्पत्ति से रसभङ्ग हो जाता, अतः रसभङ्ग नहीं हो जाये, इसके लिये भगवान् ने गोपियों में आवश्यक होनेसे उदारहास द्वारा मोह उत्पन्न किया है, और मोह से अपने में स्नेह वर्धित किया है। इसी बात को शुकदेवजी कहते हैं कि 'हासद्विजाः' भगवान् के हास्यसहित दांत कुन्दपुष्प हैं।

यद्यपि भगवान् के दांत लाल हैं, तथापि हास्य से श्वेत हो रहे हैं, इस प्रकार के दांतों में कान्ति है, काममात्र में पर्यवसान स्नेह का है, इस बातको सूचन करने के लिये भगवान् के दांतों को कुन्दपुष्प कहा है, कारण कि कुन्द रसमात्र में उपयोगी है।

यदि कहो कि भगवान् को इस प्रकार का औपाधिक स्नेहवर्धन करने पर फिर निरुपाधि स्नेह नहीं रहेगा तो महान् अन्याय हो जायगा।

इसके उत्तर में कहते हैं कि प्रथम स्वामिनियों का भगवान् में सदा निरुपाधि स्नेह था, अब इस समय भगवान् को गोपियों के लिये स्वरूपानन्द का दान रसशास्त्र की रीति के अनुसार देना है, यदि अब भी स्वामिनियों का उपाधिरहित स्नेह भगवान् में हो, तो खण्डिता आदि भाव नहीं होगा और खण्डिता आदि भाव नहीं होगा तो फिर भगवान् और स्वामिनियाँ दोनों में पूर्ण रस का भोग नहीं हो सकेगा, इसलिये निरुपाधि अंश का आच्छादन करके भगवान् ने गोपियों में कामोपाधिवाला स्नेह सम्पादन किया है, इसी बात को ज्ञापन करनेके लिये यहां स्नेहरूप दांतों का द्विजपद से कथन किया है।

कामोपाधि स्नेह सम्पादन करने से भक्तिमार्ग में हीनता नहीं होती है, कारण कि प्रथम जिस समय गोपियां भगवान् के समीप आई थीं, उस समय उपाधिरहित थीं, भगवान् ने स्वयं अपना आनन्द देने के लिये निरुपाधिभाव का आच्छादन करके कामोपाधिसहित स्नेहभाव स्थापन किया है।

यदि कहो कि काम की निवृत्ति होने पर कामोपाधिभाव की भी निवृत्ति हो जायेगी, अथवा फलभोग करने के अनन्तर दांतों की कान्ति भी जाती रहेगी।

तब इस शंकाको दूर करने के लिये कहते हैं कि दांतरूपी कुन्दपुष्पों में दीधिति-किरण, कान्ति है। अर्थात् स्नेहरूप दांतों में दीप्ति उत्तरोत्तर एकरूप-एक-सी ही प्रकाश कर रही है।

यदि कहो कि भगवान् गोपियों की प्रार्थना से रमण करते हैं, प्रार्थना बिना स्वयं रमण नहीं करते हैं, तो फिर स्वामिनियों में अभीतक जितना भाव सम्पादन किया है, इतने को पूर्ण करना उचित है, अधिक को पूर्ण करना उचित नहीं है, कारण कि अधिक पूर्ण करनेका कोई प्रयोजन नहीं है, इतने ही से श्रवण करनेवालों का कामदोष निवृत्त हो जायेगा, फिर उदारहास करना क्यों है।

इस शंका का उत्तर इस प्रकार है कि यद्यपि भगवान् ने गोपियों के आग्रह से ही, और जगत् में रहनेवाला दोषरूप काम दूर करनेके लिये रमण किया है, स्वयं अपनी इच्छा से नहीं किया है, तथापि प्रथम 'वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे' इस श्लोक में भगवान् को रमण करने की इच्छा प्रतिपादित की है। इसलिये अपने अनुरूप सर्वसामग्री सम्पादन करना भी भगवान् को आवश्यक है, इसलिये जिस प्रकार किसी नायक का मनोरथ पूर्ण नहीं होता है, और वह उदासीनता सेनायि का के सन्तोषके लिये ही रमण करता है, तब उस समय नायिका को भी रमण के पूर्णस्वरूप का अनुभव नहीं होने से सन्तोष होना सम्भव नहीं होता है। उस प्रकार भगवान् ने यहां रमण नहीं किया है। किन्तु जिस प्रकार नायक के मनोरथ पूर्ण हो जाय और वह उदासीन होकर रमण नहीं करे, एवं नायिका को भी सन्तोष हो जाय, उस प्रकार लौकिक नायक की तरह भगवान ने विकारयुक्त रसपूर्वक रमण किया है, इसी बात को सूचन करने के लिये शुकदेवजीने यहाँ चन्द्रमा का दृष्टान्त दिया है।

जिस प्रकार चन्द्रमा तारागणों के साथ शोभित होता है, उसी प्रकार भगवान् गोपियों के साथ शोभित हुए, चन्द्रमा में कलङ्क है, इसको 'एणाङ्क' शब्द सूचन कर रहा है। यहां भगवान् के रमण में भी विकारभाव सूचन किया है, चन्द्र पूर्ण भी जैसे कलाक्षय होनेसे अपूर्ण होता है, फिर क्रम से कला आने पर पूर्ण होता है, सदैव पूर्ण नहीं रहता है, वैसे ही भगवान् पूर्ण हैं, किन्तु अपूर्ण-रमण प्रसङ्ग में लौकिक नायक की तरह विकारयुक्त हो जाते हैं, फिर पूर्ण हो जाते हैं। इस प्रकार भाव चन्द्र-दृष्टान्त से कहा है।

इस प्रकार उक्त इस श्लोक में बन्ध से अन्य सम्पूर्ण बाह्य-स्पर्शादि लीला का वर्णन किया है, कारण कि स्वामिनियों को तारागण सदृश कहा है और जिस प्रकार चन्द्र तारागणों से आवृत है, उसी प्रकार स्वामिनियों को भी भगवान् का आवरण करनेवाली कहा है, आवरण बाहर चारों तरफ नियम से स्थिति को कहते हैं, इसलिये यहां भी भगवान् की बाह्य ही लीलावर्णन की है।

इस प्रकार यह भगवान् के विशेष रमण में प्रथम लीला गोपियों के देह की स्थिति में बाधक विरहाग्निरूप काम का दूर करनेवाली है, अर्थात् गोपियों के हृदय में स्थित कामाग्नि को अधरामृत सिञ्चन से निवृत्त करनेवाली है॥ ४३॥

(सुबो०) एषा विशेषतः प्रथमलीला बाधककामनिवारिका। द्वितीयलीलाया उद्बोधार्थं पूर्वसामग्रीमाह उपगीयमान इति।

यह प्रथम लीला विशेष में बाधक काम का निवारण करनेवाली कहकर अब विशेष लीला में द्वितीय लीला प्रकट करने के लिए उसकी प्रथम सामग्री शुकदेवजी कहते हैं।

उपगीयमान उद्गायन् वनिताशतयूथपः।
मालां बिभ्रद्वैजयन्तीं व्यचरन् मण्डयन् वनम्॥ ४४॥

पद्पदार्थ—(वनिताशतयूथपः) सैंकड़ों स्त्रियों के यूथपति (उपगीयमानः) समीप में गोपियों द्वारा गान किये भगवान् (उद्गायन्) स्वयं भी गान करते (वैजयन्तीं) नवरत्नखचित वैजयन्ती (मालां) माला को (बिभ्रत्) धारण करते (वनम्) श्रीवृन्दावन को (मण्डयन्) शोभित करते (व्यचरन्) विचरते हुए ।। ४४ ।।

भाषार्थ—सैंकड़ों स्त्रियों के यूथपति भगवान के समीप गोपियां गान करतीं और भगवान स्वयं भी गान करते, वैजयन्ती माला धारण कर वन को शोभित करते विचरते हुए ।। ४४ ।।

(सुबो०) ताभिरुपगीयमानः निकटे गीयमानः स्वयमप्युद्गायन् जातः। ततः वनिताशतानामनेकविधस्त्रीणामनेकविधानेव यूथान् पातीति तथा जातः। यावतीभिर्मिलितो रसहेतुर्भवति, तावतीनामेकं यूथम् । एवमनेकयूथानि कृतानि। तेषामत्र रक्षणं दूरादेवाश्वासनेन च । तदा गायतो गच्छतः रूपमाह मालामिति । वैजयन्तीं नवरत्नखचितां स्वाभाविकीमैश्वर्यप्रबोधिकां कीर्तिमयीं मालां बिभ्रत्, वनमेव सर्वं मण्डयन् अलंकुर्वन्, व्यचरत् लीलागतिं कृतवान् । एषा हि गतिः तासां कामोद्बोधिका। स तासां कामपूरकः। एकस्मात् वनात् वनान्तरं वा गत इति ॥ ४४ ॥

गोपियां भगवान के पास गान करने लग गईं, और भगवान स्वयं भी ऊँचे स्वर से गान करने लग गये । फिर सैकड़ों स्त्रियों के अनेक प्रकार के यूथों का पालन करनेवाले पति हो गये ।

जितनी गोपियों से मिलकर रस प्रकट हो, उतनी गोपियों का एक यूथ है, इस प्रकार अनेक यूथ किये ।

भगवान् ने अनेक प्रकार के यूथों का रक्षण दूर से ही आश्वासन, ललितगति, सुन्दर वाक्य, मन्द मुसुकान, कटाक्षों का प्रक्षेप आदि से किया है ।

गान करते हुए भगवान का स्वरूप शुकदेवजी कहते हैं, (मालाम्) भगवान ने नवरत्नों से जड़ी हुई, स्वाभाविक ऐश्वर्य प्रकट करनेवाली कीर्तिमयी वैजयन्तीमाला धारण करके समग्र वृन्दावन को भूषित किया है, और लीला से धीरे-धीरे गमन करने लग गये, यह रसपोषक प्रकरण है, अतः भगवान की चरणगति भी रसपोषक ही है, इसीसे कहा है कि भगवान की ललितगति गोपियों के काम को जाग्रत करनेवाली है । कारण कि भगवान गोपियोंका काम पूर्ण करनेवाले हैं।

अथवा 'व्यचरत्' भगवान् गोपियों सहित एक वन से दूसरे वन में पधारे इस प्रकार अर्थ होता है ।। ४४ ।।

(सुबो०) एवमुद्बुद्धे कामे ताभिः सह बन्धादिभिः रेम इत्याह नद्या इति।

इस प्रकार गोपियों में काम जाग्रत होने पर भगवान् ने गोपियों के साथ रसशास्त्र सिद्ध बन्ध आदि प्रकार से रमण किया, इसीको आगे कहते हैं ।

नद्याः पुलिनमाविश्य गोपीभिर्हिमवालुकम् ।
रेमे तत्तरलानन्दिकुमुदामोदवायुना ॥ ४५ ॥

पद्पदार्थ—(नद्याः) श्रीयमुनाजीके (हिमवालुकम्) शीतलवालु-रजवाले (तत्तरलानन्दि) श्रीयमुनाजी की लहरों से आनन्दयुक्त (कुमुदामोदवायुना) कमलपुष्पों की सुगन्ध-

युक्त वायु से (जुष्ट) सेवित (पुलिन) पुलिन को (गोपीभिः) गोपियों के साथ (आविश्य) प्रवेश करके (रेमे) भगवान रमण करते हुए ।। ४५ ।।

भाषार्थ—श्रीयमुनाजी के शीतल वालुका-रजवाले और श्रीयमुनाजी की तरङ्गों से आनन्दयुक्त कमलपुष्प की सुगन्धयुक्त वायु से रमण करते हुए ।। ४५ ।।

(सुबो०) नद्याः पुलिनमच्छं कोमलमाविश्य, आसमन्तात् प्रविश्य, रमणे बन्धादिभिरतिकोमलं कृत्वा, गोपीभिरनेकविधाभिः रेमे । हिमाः शीतलाः वालुका यत्रेति अन्तरूष्मा निवारितः । बहिःशैत्यं चाह तत्तरलानन्दीति । तस्या नद्यास्तरलास्तरङ्गाः ताभिः कृत्वा आनन्दयुक्तं पुलिनमेव । आनन्दयुक्तो वायुर्वा। कुमुदानां चानन्दयुक्तसुगन्धः । तस्यानन्दजनकत्वेनैव मान्द्यं निरूपितम्। शैत्यं च कुमुदानां जलसम्बन्धात् । तादृशवायुना सहितं पुलिनम्। महाबन्धेषु वायोरप्यपेक्षा ॥ ४५ ॥

भगवान् गोपियों सहित श्रीयमुनाजी के स्वच्छ कोमल पुलिन में सर्वत्र प्रविष्ट होकर, अर्थात् रमण में बन्धादि द्वारा अति कोमल करके अनेक प्रकार की गोपियों के साथ भगवान् ने अनेक प्रकार से रमण किया, गहरे जल से निकला हुआ बालू का स्थल, अथवा चारों तरफ से जिसके जल हो और बीच में स्थल हो, इस प्रकार का रेती के स्थल टापू का नाम पुलिन है ।

श्रीयमुनाजी का पुलिन शीतल बालूवाला है, इसलिये भीतर गरम नहीं है और बाहर से भी गरम नहीं है, कारण कि श्रीयमुनाजी की लहरों से आनन्दयुक्त है, अथवा 'तत्तरलानन्दिकुमुदामोदवायुना' समस्त एकपद मानकर 'तत्तरलानन्दि' यह वायु का विशेषण है, तब इस प्रकार अर्थ होता है कि श्रीयमुनाजी की लहरों से आनन्दयुक्त और कमलों से आनन्दयुक्त सुगन्धित वायु जिसमें है ।

वायु को आनन्द उत्पन्न करनेसे ही मन्द चलने का भी निरूपण कर दिया है, और शीतलता कमलों के जल सम्बन्ध से हुई है, इस प्रकार शीतल, मन्द और सुगन्ध त्रिविध वायुसहित पुलिन है, महाबन्धों में वायु भी अपेक्षित प्रस्वेद आदि निवारण के लिये होता है ।। ४५ ।।

(सुबो०) एवं सर्वभावेन तासां जातस्मरकेलित्वं सम्पादितम् । अतः परं अष्टविधालिङ्गनादिपूर्वकं चेष्टितकामादियुक्तं रसविलासचरित्रमाह बाहुप्रसारेति।

इस प्रकार भगवान् ने बाह्यलीला की अपेक्षा से गोपियों के साथ अनेक बन्धादि प्रकार से रमण करके गोपियों में जातस्मरकेलित्व सम्पादन किया है, अब आगे आठ प्रकार के आलिङ्गन आदि पूर्वक चेष्टित काम आदि युक्त रसविलासचरित्र को शुकदेवजी कहते हैं ।

बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरु-
नीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः ।
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणा-
मुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार ॥ ४६ ॥

पदपदार्थ—(बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरुनीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः) । बाहुप्रसार-हस्त लम्बा करना, परिरम्भ-परस्पर मिलना, कर-हस्त अलक-बाल शिर के छल्लादार खुले, ऊरु-जंघा, नीवी, गुप्तस्थल, स्तनालभन-स्तनों का स्पर्श, नर्म-हँसी, नखाग्रपात-नखक्षत, नखों के अग्रपातों से (क्ष्वेल्यावलोकहसितैः) क्रीडापूर्वक अवलोक और हास्यों से (व्रजसुन्दरीणाम्) व्रजसुन्दरी गोपियों के (रतिपतिं) काम को (उत्तम्भयन्) अधिक वर्धन करते जाग्रत करते (रमयाञ्चकार) रमण कराते हुए ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—बाहुप्रसार परिरम्भ हस्त अलक जंघा नीवी तथा स्तनोंका स्पर्श हास्य नखदान दन्तक्षत आदि से, इसी प्रकार क्रीडा प्रस्तोभन आदि पूर्वक अवलोकन और हास्यसे व्रजसुन्दरियों के काम को वर्धन करते भगवान् ने रमण कराया ॥ ४६ ॥

(सुबो०) दूरे स्थितानामवयवं वा स्प्रष्टुं बाहुप्रसारणम् । ततो बलादपि परिरम्भः । ततः करालकोरुनीवीस्तनानामालभनानि । करालभनं हस्तेग्रहणम् । पुरुषायितलीलासम्बन्धे वा । एवं कचोन्नमनार्थं अलकानां स्पर्शः । ऊरुस्पर्शो बाहुबन्धार्थः । नीवीस्पर्शः पुष्टे रसे मोचनार्थः । स्तनयोस्तु रसोद्गमनार्थः । एवं पञ्च स्पर्शा विहिताः । नर्मपरिहासवचनानि कामस्तम्भनार्थम् । ततो नखाग्रपाताः नखक्षतदन्तक्षतताडनादयः कामयुद्धनिरूपिकाः । तत्तत्स्थाने स्थितः कामः तैरुद्बोध्यते, यथा सेनावधे राजा समायाति । क्ष्वेलिः क्ष्वेलिका प्रस्तोभनादिः, तत्पूर्वकान्येवावलोकनानि । हसितानि रसस्थापकानि । एवं द्वादशविधोऽपि कामः द्वादशाङ्गेषु स्थितः प्रबुद्धो भवति, तदाह व्रजसुन्दरीणामुत्तम्भयन्निति । संयुक्तः कामो रतिपतिः, वियुक्तस्त्वग्निरूपः । एवमाधिदैविकं काममुद्बोधयन् रमयाञ्चकार । गोपीनां सुखमेव प्रकटितवान्, न तु कामान्तेन विरतिमुत्पादितवान् ॥ ४६ ॥

भगवान् ने दूर स्थित गोपियों का स्पर्श करने के लिये अथवा गोपियों के अवयवों का स्पर्श करने के लिये बाहुप्रसारण—अपना हस्त लम्बा किया है।

फिर लज्जित गोपियों का बलात्कार से परिरम्भण दोनों हस्त से पकड़ करके वक्षस्थल से वक्षस्थल को लगाया हैं, इसके अनन्तर १ हस्त, २ अलक, ३ ऊरु, ४ नीवी, ५ स्तन इनका स्पर्श किया है।

करालभन—गोपियों का हस्तग्रहण किया है, करालभन, पुरुषायित लीला को भी कहते हैं, पुरुषायित लीला-पुरुष की तरह आचरण करनेवाली लीला है। अथवा, करालभन-सम्बन्ध को कहते हैं, इसी प्रकार गोपियों के कच, केशों को ऊँचे करने के लिये भगवान ने अलक बाल की लटों का स्पर्श किया है।

जङ्घा का स्पर्श भगवान् ने बाहुबंध के लिये किया है।

रसपुष्ट होने पर वस्त्रत्याग कराने के लिये भगवान ने नीवी का स्पर्श किया है।

इसके अनन्तर रस प्रकट करने के लिये भगवान ने गोपियों के स्तनों का स्पर्श किया है, और मर्दन किया है।

इस प्रकार रसशास्त्र—कामशास्त्र में पांच स्पर्श कहे हैं, वे भगवान ने किये हैं।

नर्म—भगवान ने काम का स्तम्भन करने के लिये हास्यवाक्य कहे हैं। फिर नखाग्रपात-नखों के अग्रभाग से क्षत तथा दन्तक्षत—दांतों से कपोल आदि में क्षत किये हैं, नखक्षतादि काम-युद्ध निरूपण करनेवाले हैं, अर्थात् नखाग्रपात और दांतों से काम के साथ युद्ध किया है। इससे तत्तत्स्थान में स्थित काम जाग्रत होता है। जिस प्रकार सेना का वध हो जाने पर राजा स्वयं संग्राम में आगे आता है। उसी प्रकार काम भी जाग्रत होता ही आता है।

क्ष्वेलि-क्रीडा प्रस्तोभनादि, भगवान ने गोपियों का क्रीडासहित अवलोकन और उनके साथ हास्य किया है। भगवान का अवलोकन हास्यरस स्थापन करनेवाला है, इस प्रकार भगवान ने बारह प्रकार से काम गोपियों के बारह अङ्गों में स्थित अतिजाग्रत किया है। इसी बात को शुकदेवजी कहते हैं कि 'व्रजसुन्दरीणामुत्तम्भयन्'

भगवान ने व्रजसुन्दरी गोपियां का कामवर्धन किया है।

संयोग दशा में काम रतिपति होता है और वियोगदशा में तो काम अग्निरूप हो जाता है। इस प्रकार भगवान ने गोपियों में आधिदैविक काम जाग्रत करके गोपियोंको रमण कराया है।

मूल में 'रमयाञ्चकार' इस प्रकार परस्मैपद का प्रयोग किया है, इसका तात्पर्य यह है कि रमणफल गोपियों को मिलेगा, 'नद्याः पुलिनमाविश्य' इस ४५ वें श्लोक में 'रेमे' इस आत्मनेपद का प्रयोग है, इसलिये इसका फल भगवान को मिलेगा, भगवान ने गोपियों के लिये कामसुख ही प्रकट किया है और वह सुख निरन्तर गोपियों को प्राप्त हो रहा है, जिस प्रकार लौकिक कामी स्त्री-पुरुषों को काम के अन्त में विरति-ग्लानि प्राप्त हो जाती है, उस प्रकार की विरति यहां नहीं हुई है, किन्तु गोपियों की सदा सुख ही भगवान् ने प्रकट किया है, कारण कि गोपियों में आधिदैविक काम जाग्रत किया है, लौकिक नहीं किया है।

यद्यपि 'उदारहास' इस ४३वें श्लोक में उपाधिभूत काम सम्पादन करना कहा है, और वह विकारवान् है, कहा है, तथापि विकार भी स्वरूपात्मक है, इसलिये उपाधि भी वास्तव में आधिदैविक ही है ॥ ४६ ॥

(सुबो०) एवं संयोगश्रृङ्गारमुपपाद्य विप्रयोगमुपपादयितुं तासां मानमाह एवमिति ।

इस प्रकार संयोग शृङ्गार प्रतिपादन करके अब श्रीशुकदेवजी विप्रयोग शृङ्गार प्रतिपादन करने के लिये गोपियों के मान का वर्णन करते हैं।

एवं भगवतः कृष्णाल्लब्धकामा महात्मनः ।
आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि ॥ ४७ ॥

पदपदार्थ—(एवं) इस प्रकार (महात्मनः) महापुरुष (कृष्णात्) कृष्णसदानन्द (भगवतः) भगवान् से (लब्धकामाः) प्राप्त कामवाली गोपियां (मानिन्यः) मानवती हुई (भुवि) पृथिवी में (स्त्रीणां) स्त्रियों के मध्य में (आत्मानं) अपने को (अभ्यधिकं) सब से अधिक-श्रेष्ठ (मेनिरे) मानती हुई ॥ ४७ ॥

भाषार्थ—इस प्रकार महात्मा कृष्ण भगवान् से मनोरथ प्राप्त गोपियों को मान-अभिमान हुआ कि पृथिवी में जितनी स्त्रियां हैं उनके मध्य में हम सब से अधिक-श्रेष्ठ हैं ॥ ४७ ॥

(सुबो०) पूर्वोक्तप्रकारेण भगवतः सर्वरसदानसमर्थात्, कृष्णात् सदानन्दात् फलस्वरूपात्, लब्धकामाः प्राप्तमनोरथाः सत्यः आत्मानमेव पूर्णं मेनिरे, न तु भगवन्तं पूर्णम्, तेन वा स्वपूर्णताम्। ननु भगवानेवं कथं कृतवान्, न्यूना एव कथं न संरक्षिताः, तत्राह महात्मन इति। भगवान् महानेवात्मा। न ह्यगाधे जले प्रविष्टः अमग्नो भवति, घटो वा अपूर्णो भवति। किञ्च, आत्मानं स्त्रीणां मध्ये अभ्यधिकं मेनिरे, भुवि चाभ्यधिकं भुवि स्त्रीणा मध्ये वा। अत एव मानिन्योऽपि जाताः। न ह्यस्मत्सदृशोऽन्याः सन्ति। अतोऽस्मान् यदि प्रार्थयिष्यति, तदा रसं दास्याम इति मानयुक्ता जाताः। भगवद्धर्मास्तासु समागताः। तथा सति यथा प्रार्थनया पूर्वं भगवान् वशे जातः, एवं वयमपि भविष्याम इति। रसार्थमेवैवं भावः, न तु दोषरूपः, भगवद्भावात् ॥४७॥

प्रथम कहे प्रकार से भगवान् सर्वरसदान में समर्थ कृष्ण-सदानन्द फलरूप से गोपियां अपना मनोरथ प्राप्त करके अपने को पूर्ण मानती हुईं। और भगवान् को पूर्ण नहीं मानती हुईं, और भगवान् से हम पूर्ण हुई हैं, यह भी नहीं मानती हुईं।

यदि कहो कि भगवान् ने इस प्रकार गोपियों का मनोरथ पूर्ण करके गोपियों को पूर्ण क्यों किया, गोपियों को अपने तुल्य नहीं करके न्यून-अपने कम बना करके इनका संरक्षण क्यों नहीं किया।

इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि (महात्मनः) भगवान् महान आत्मा है, जो कोई अगाध-ओंड़े जल में प्रविष्ट होता है वह डूबे बिना नहीं रहता है, अथवा अगाध जल में घड़ा भी भरे बिना नहीं रहता है। भर ही जाता है, इसी प्रकार गोपियां अगाध रसवाले भगवान कृष्ण के रस में मग्न पूर्ण ही हो गईं।

और अपने को स्त्रियों के मध्य में अथवा पृथिवी में अथवा पृथिवी में जो स्त्रियां हैं उनके मध्य में अधिक-बहुत श्रेष्ठ मानती हुईं, इसलिये मानवती भी हुईं कि हमारे तुल्य जगत् में अन्य कोई भी स्त्रियां नहीं हैं। इस प्रकार अभिमान हो गया कि अब यदि भगवान् हमारी प्रार्थना करेंगे तो हम भगवान को रसदान करेंगे। इस प्रकार गोपियां मानयुक्त हुईं। मान आदि धर्म भगवान् के गोपियों में प्रविष्ट हो गये, अतः गोपियां मानने लग गईं कि जिस प्रकार भगवान् हमारी प्रार्थना से वश में हुए, उसी प्रकार भगवान् हमारी प्रार्थना करेंगे तो हम उनके वश में हो जायंगी। इस प्रकार का भाव गोपियों में रसपोषण करने के लिये ही हुआ है, यह भाव दोष रूप नहीं है, कारण कि गोपियों में अभिमान भगवद्भाव से हुआ है, अर्थात् भगवद्धर्म कृत ही है॥

(सुबो०) भगवांस्तु ऐक्येनैव रसं प्रयच्छन् बहिस्तिरोहितो जात इत्याह तासामिति।

भगवान् तो ऐक्य से ही रसदान करते बाहर से तिरोहित हो गये इसी बात को शुकदेव जी आगे के श्लोक में कहते हैं।

तासां तत्सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत ॥ ४८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

पदपदार्थ—(तासां) गोपियों के (तत्) प्रसिद्ध पूर्वोक्त सर्वोत्तमलक्षण (सौभगमदं) सौभाग्यमद को (च) और (मान) मान को (वीक्ष्य) देखकर (प्रशमाय) शान्त करने के लिये (प्रसादाय) प्रसाद करने के लिये (केशवः) केशव भगवान (तत्रैव) वहां ही (अन्तरधीयत) अन्तर्हित हो गये ॥ ४८ ॥

भाषार्थ—गोपियों का प्रसिद्ध सौभाग्यमद, और मान देखकर शान्त करने के लिये और प्रसाद करने के लिए केशव भगवान वहां ही अन्तर्हित हो गये ॥ ४८ ॥

(सुबो०) मानः पूर्णता च न दोषाय। स्त्रीषु भूमौ च यदाधिक्यज्ञानं स दोषो भवति। तदनूद्य तत्परिहारार्थं तिरोहित इत्याह। तासां तत्प्रसिद्धं पूर्वोक्तं सर्वोत्तमत्वलक्षणं सौभाग्यमदं वीक्ष्य, तस्य मदस्य प्रशमाय अन्तरधीयत। ननु भगवद्रमणेन हि तासामेवं भावः, अतः स्वकृत एवेति कथं तिरोधानं कृतवानित्याशङ्क्याह। वीक्ष्य मानं च प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयतेति। मानापनोदनं कर्तव्यम्। मानस्त्वान्तरः। अशक्तो हि बहिरपनोदनार्थं यत्नं करोति। चकारात् स्वधर्मं च। अतः प्रसादाय, प्रथमतस्तासां, पश्चात् स्वस्य च तत्रैव गोपिकासु यूथमध्ये वा अन्तर्धानं प्राप्तवान्। नन्वेतत् द्वयमपि न कर्तव्यम्, उपेक्षिताः कुतो नेति चेत्, तत्राह केशव इति। यथा रजोगुणं ब्रह्मणो निवार्य, तस्मै मुक्तिं दत्तवान्, यथा वा शिवस्य तमोगुणं निवार्य, एवमेतासामपि मदं मानं च निवार्य, मुक्तिं दातुं तथा कृतवानित्यर्थः। कायिकतिरोभावोऽयम्, प्रथमाधिकारित्वाद् गोपीनाम् ॥ ४८ ॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणे षड्विंशाऽध्यायविवरणम् ॥ २६ ॥

गोपियों में प्रसिद्ध सौभाग्यमद देखकर शान्त करने के लिये तथा मान देखकर प्रसाद के लिये भगवान अन्तर्हित हो गये। इससे ज्ञात होता है कि मद ही दोषरूप है, मद का ही प्रशमन है, मान का नहीं है, मान तो भगवद्धर्म है, अतः दोषरहित है। इसीको श्रीसुबोधिनीजी में कहते हैं कि गोपियों को जो पूर्णता-भगवद्धर्मरूप आप्तकामता हुई, और आप्तकामता होनेसे जो मान हुआ है, वह दोषरूपी नहीं है, किन्तु स्त्रियों में और भूमि में हम श्रेष्ठ हैं, इस प्रकार जो आधिक्य ज्ञान गोपियों को हुआ, वह दोषरूप है, इसलिए इस दोषका अनुवाद करके दोष दूर करने के लिये भगवान तिरोहित हो गये, इसी बात को कहते हैं कि (तासां)।

गोपियों का प्रसिद्ध प्रथम श्लोक में कहा 'हम श्रेष्ठ हैं' इस प्रकार का सौभाग्यमद भगवान् देखकर उस मद को दूर करने के लिये आप अन्तर्हित हो गये।

यदि कहो कि गोपियों ने जो भगवान् के साथ रमण किया, उस रमण से गोपियों को सौभाग्यमद हुआ है, अतः भगवान् का किया ही तो मद है फिर आप द्वारा उत्पन्न मद दूर करने के लिये आपने ही तिरोधान क्यों किया।

इस शंका का उत्तर देते हैं कि 'वीक्ष्य मानं च'।

भगवान् गोपियों का मान देखकर प्रसाद करने के लिये वहां ही अन्तर्हित हो गये, मान दूर करने के लिये तिरोधान करना आवश्यक है । अतः भगवान् को मान तो दूर करना ही था, नहीं तो आगे रमण में अभिमान प्रतिबन्ध करता, मान दूर करने के लिये भगवान् ने तिरोधान किया है ।

मान तो गोपियों के आन्तर-भीतर है, जो कोई अशक्त होता है, वह बाहर से दूर करने का प्रयत्न करता है, 'च' चकार से स्वधर्मपूर्णता भगवान् ने गोपियों को अपने धर्म से पूर्ण किया है । उसको भी दूर करना है ।

लौकिक कामी पुरुष मानको बाहर से दूर करने का प्रयत्न करता है, कारण कि वह अशक्त होता है, किन्तु भगवान् सर्वसामर्थ्यवान् हैं, अतः प्रसाद करने के लिये अन्तर्हित हुए हैं, अर्थात् प्रथम गोपियों के भीतर प्रविष्ट होकर बाहर के प्रकार से विलक्षण, जिसको कह नहीं सकते, इस प्रकार से प्रार्थना कर भगवान् गोपियों को अपने वश में करेंगे, पश्चात् २८ वें अध्याय में गोपियों की प्रार्थना से भगवान् स्वयं गोपियों के वश में हो जायेंगे, इस प्रकार के प्रसाद का दान करने के लिये भगवान् तिरोहित हो गये ।

भगवान् कहां पर तिरोहित हुए ? इसको कहते हैं कि (तत्रैव) वहां ही गोपियों के भीतर हृदय में, अथवा 'एव' कार से जिन गोपियों में मदमान नहीं था, उन गोपियों के यूथ के मध्य में ही बाहर विराजते अन्तर्हित रहे हैं ।

योजनाकार कहते हैं कि 'तत्रैवान्तरधीयत' इसमें दो पक्ष हैं, (१) 'गोपिकासु' गोपिकाओं के हृदय में, अर्थात् गोपियों के हृदय में लीलासहित प्रभु की क्रीडा है, वह अलौकिकी लीला है ।

(२) 'यूथमध्ये वा' यूथ के मध्य में, यहां लौकिक प्रकार से छुपकर भगवान् की स्थिति है, इस प्रकार दोनों पक्षों में 'तत्र' पद प्रमाण है ।

अब यहां तीसरा पक्ष भी है, वह यह है कि व्यापिवैकुण्ठ में पधारे हैं, और वहां लक्ष्मीजी के साथ उतने कालपर्यन्त रमण किया है, फिर वहां से आने के समय मार्ग में ब्रह्माजी ने भगवान् की पूजा की है, पूजा के समय ब्रह्माजी ने माला समर्पण की है, समर्पण की हुई माला धारण करके भगवान् पधारे, इस कथा को २९ वीं अध्याय में 'तासामाविरभूत्' श्लोक २ में कहेंगे, इस प्रकार भगवान् के तिरोधान में तीन पक्ष हैं ।

यदि कहो कि भगवान् को गोपियों के मद का प्रशमन और मान दूर करना दोनों ही नहीं करने थे, गोपियों का त्याग कर देते, फिर भगवान् ने गोपियों की उपेक्षा-त्याग क्यों नहीं किया ।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि (केशवः) क—ब्रह्मा । ईश—महादेव । इन दोनों को 'व' मोक्ष देनेवाले केशव हैं, अर्थात् जिस प्रकार ब्रह्मा का रजोगुण दूर करके, उसके लिये भगवान् मोक्ष देते हैं, और जिस प्रकार शिव का तमोगुण दूर कर शिव को मोक्ष देते हैं, उसी प्रकार गोपियों का मद और मान दूर करके मुक्ति-विप्रलम्भ शृङ्गाररस का अनुभव देने के लिये भगवान् तिरोहित हुए हैं ।

भगवान् का यह तिरोभाव वाणी अथवा मन का नहीं है, कायिक-स्वरूप का है । कारण कि गोपियां प्रथम-तामस अधिकारवाली हैं, तामसभक्तों की स्वरूपमात्र में निष्ठा होती है, इसलिये भगवान् ने शरीर का तिरोधान किया है । कारण कि वाणी और मन के तिरोधान में गोपियों को दुःख नहीं होता और दुःख नहीं होने से वियोग का अनुभव भी नहीं होता, स्वरूप का तिरोधान होने पर ही गोपियों को दुःख होने से विरह का अनुभव होता है । अतः विरहानुभव कराने के लिये भगवान् ने स्वरूप तिरोधान किया है ।

प्रकाशकार कहते हैं कि 'कस्य रूपमभूद्द्वेधा तत्कायमभिचक्षते' इस पद की निरुक्ति से भगवान् ने स्वरूप दो प्रकार का किया और दो प्रकार का भाव विधान करके बाहर के कायस्वरूप को गोपियों से छुपा लिया, कारण कि प्रथम अधिकार अर्थात् सर्वात्मभाव के आरम्भकाल की कक्षा में गोपियों को अधिकार है, इसलिये गोपियों को मद और मान हुआ है, पूर्ण दशा में मद और मान भाव नहीं होता है, इस प्रकार भगवान बाहर से तिरोहित होकर रसात्मक स्वरूप से गोपियों के हृदय में विराजे, यह फलित अर्थ हुआ है ॥ ४८ ॥

इति श्रीभागवत सुबोधिनी श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज श्रीवल्लभदीक्षितविरचित दशम स्कन्ध तामस
फलप्रकरण प्रथम २६ वें अध्याय का उपलब्ध साहित्यसहित मथुरास्थ जगन्नाथ
चतुर्वेदी (सर्वंन) कृत भाषाविवरण पूर्ण हुआ ।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

(श्रीमद्भा०, स्क० १०, अ० २७)

अब श्रीमद् आचार्य चरण सत्ताइसवें अध्याय का विवरण करते हुए प्रथम प्रसङ्गरूपसङ्गति का बोध करने के लिये पहिली २६ वें अध्याय का अर्थ सार्धकारिका से अनुवाद करते हैं—

(सुबोधिनीकारिका)

‘स्वानन्दस्थापनार्थाय लीला भगवता कृता ।
सबाह्यो जनितः पुष्टो यथान्तर्निविशेत् पुनः ॥ १ ॥
तदर्थं भगवांस्तासु लीलया सहितोऽविशत् ।
चत्वारोऽत्र निरूप्यार्थाः रसासक्तिर्हरेः क्रियाः ॥ २ ॥
गर्वाभावश्च तत्रादौ निरूप्यन्ते क्रमात् त्रयः ।
उद्देश्यतो लक्षणतः फलतश्च यथायथम् ॥ ३ ॥
सप्तविंशे तिरोधानाल्लीलान्वेषण - तत्पराः ।
रसमन्तर्गतं चक्रुर्गोपिका इति रूप्यते ॥ ४ ॥

पूर्वाध्याय में भगवान् अन्तर्हित क्यों हुए ? इसका तात्पर्य कहते हैं कि (स्वानन्द स्थापनार्थाय) भगवान् ने गोपियों के साथ २६ वें अध्याय में कामलीला की । वह अपने स्वरूपात्मक आनन्द को गोपियों में स्थापन करने के लिये की थी । लौकिक में काम से उत्पन्न आनन्द समय विशेष में उत्पन्न होता है, और स्वल्पकाल रहता है, फिर नष्ट हो जाता है, कारण कि विकृत है । प्रकृत में तो कामलीला से उत्पन्न आनन्द भी स्वरूपात्मक है—अर्थात् भगवत्स्वरूप है । भगवान् का स्वरूप अविकृत है, इसलिये स्वरूपात्मक आनन्द अविकृत ही उत्पन्न होता है, और यह आनन्द सर्वदा रहता है, कभी भी नष्ट नहीं होता है । संयोगावस्था में यह आनन्द बाहिर प्रकट होता है, और विप्रलम्भ (विरहावस्था में) भीतर प्रकट होता है, इस प्रकार दोनों प्रकार से रहता है । यह आनन्दात्मा रस बाह्य प्रकार से उत्पन्न हुआ जिस प्रकार भीतर पुष्ट होकर देह इन्द्रिय आदि में पुनः प्रवेश करे, इसके लिये लीलासहित भगवान् गोपियों में प्रविष्ट हुए ।

टिप्पणी में इसका आशय इस प्रकार कहा है ।

संगम में अग्रिम-अग्रिम रस के लिये नवीन-नवीन प्रयत्न किया जाता है, पूर्वानुभूत रस का पोषण नहीं किया जाता है, कारण सभी रस स्वतन्त्र हैं । संयोग में जैसे-जैसे रस का अनुभव अधिक होता है, वैसे-वैसे विप्रयोग में दुःख का अनुभव अधिक होता है, यह बात अनुभवसिद्ध है । इस प्रकार के भाव में सस्कारमात्र शेष पूर्व रस का उपमर्दन करनेवाला अग्रिम संगम रस का अभाव होने से जिस प्रकार भीतर ही रस अति पुष्ठ होता है, उस प्रकार पूर्वानुभूत लीलास्वरूपात्मक देह इन्द्रिय प्राण अन्तःकरण आत्मा हो जाते हैं । इसको ही सर्वात्मभाव कहते हैं, अर्थात् निरोधात्मक प्रलय हो जाने से सर्वात्मभाव में पूर्णाधिकार सम्पन्न हो जाता है । अतएव स्वरूप

परिग्रह में ‘असौ अहम्’ यह मैं हूं इत्यादि रूप कृष्णज्ञान स्फुरित होता है, अहंता स्फुरित नहीं होती है । और कृष्ण की सी ही क्रिया हो जाती है । इसके अनन्तर सङ्गम होने पर पूर्व सङ्गम से अधिक रस की स्फूर्ति इसीसे ही होती है । नहीं तो पूर्वसंगम में और विप्रयोग के अनन्नर संगम में विशेषता का अनुभव नहीं होगा । यद्यपि संगम के उत्तरकालीन विप्रयोग मात्र में ही विशेष रस का अनुभव होना सम्भव होता है, फिर भगवान् के भीतर प्रविष्ट होनेकी अपेक्षा रहती नहीं है तथापि यह विप्रयोग अतिविषम है, क्षणमात्र में अन्यथावस्था करनेवाला है । आगे फिर रसदान भी नहीं हो सकेगा, इसलिये भगवान् रसात्मकस्वरूप स्वयं प्रविष्ट हुए, इस बात को आगे कहते हैं । (तदर्थं भगवांस्तासु लीलया सहितोऽविशत्) उक्त कार्य करने के लिये भगवान् गोपियों में लीलासहित प्रविष्ट हुए ॥ १½ ॥

(चत्वारोऽत्र निरूप्यार्थाः) इस रसपोषण करनेवाली विप्रयोग अवस्था में चार अर्थ निरूपण किये हैं ।

(१) रसासक्ति, (२) भगवान् की क्रिया, (३) गर्व का अभाव-गर्व-अहङ्कार, उसका अभाव, (४) गुणगान, प्रिय की प्राप्ति में साधन अनुष्ठानरूप वियोगरस स्वभाव से प्राप्त गुणगान चौथा अर्थ है । यहां इस सत्ताईसवें अध्याय में रसासक्ति आदि तीन ही अर्थ कहें हैं । और ये उद्देश-नाममात्र से कीर्तन नहीं, किन्तु संक्षेप से अथवा एकदेश से कहे हैं, तथा लक्षण और फल से कहे हैं । चौथा गुणगान आगे अट्ठाइसवें अध्याय में कहा है । पहिले तीन श्लोकों में ‘रसासक्ति’ ‘भगवत्क्रिया’ और ‘गर्वाभाव’ इन तीनों का उद्‌देश है । यद्यपि ‘गायन्त्य उच्चैः’ यहां गान का भी उद्‌देश है, तथापि लक्षण एवं फल नहीं कहा, इसलिए गान नहीं कहा है । अथवा उद्‌देश विचार से ‘तद्‌गुणानेव गायन्त्यः’ यह समाप्ति में कहा है, अतः इस अध्याय में ही चारों अर्थ हैं । लक्षण आदि विचार से इस अध्याय में तीन अर्थ हैं, चतुर्थ गुणगान को लक्षित नहीं किया है, तो भी उपक्रम और उपसंहार में गुणगान दीखता है, इसलिये अर्थत्रय में अनुस्यूत होने से अथवा आगे के अध्याय में कहने से विरोध नहीं आता है । गोपियां रसासक्ति के कारण से ही भगवान् के अन्वेषण में तत्पर हुई, नहीं तो घर लौट जातीं । जिस समय गोपियों को बहिःसंवेदन (बाहिर का ज्ञान) होता है, उस समय अन्वेषण करने से रसासक्ति का ही निरूपण किया है । अन्वेषण रसासक्ति का लक्षण असाधारण धर्म का अनुमापक है ।

(हरेः क्रियाः) भगवान् की क्रिया ‘कस्याश्चित्पूतनायन्त्याः’ कोई गोपी पूतना का-सा आचरण करती, इत्यादि लक्षण से निरूपण की है । गर्वाभाव का लक्षण (अनयाराधितो नूनम्) सपत्नीभाग्य अभिनन्दन से कहा है । अन्वेषण का फल भगवान् के पद का दर्शन है । भगवान् की लीलावेशफल प्रिया के अधीन तथा अनधीन प्रिय को जानने पर उसमें दोषारोप अभावपूर्वक (रेमे तया चात्मरतः) इत्यादि भाव है । गर्वाभावफल भगवान् के बिना इतर पदार्थ की विस्मृतिपूर्वक एक भगवान की प्राप्ति के लिये ही प्रयत्न करना है । (ततोऽविशन् वनं चन्द्रज्योत्स्ना यावद् विभाव्यते) इस श्लोक में कहा है ।

गुणगान तो विशेष करके आगे की अध्याय में है । इस अध्याय में भी (पुनः पुलिनमाविश्य) इत्यादि से सामान्य कहा है ।

इस प्रकार आसक्ति, हरिलीला, गर्वाभाव और गुणगान ये चार अर्थ तिरोधान लीला में निरूपण करेंगे ॥ ३ ॥

भगवान् जब तिरोहित हो गये तब गोपियां भगवान् की लीला में तथा भगवान् के